



महावीर जयन्ती 2610

# जैनविद्या

आचार्य शिवार्य विशेषांक

## जैनविद्या संस्थान

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी  
राजस्थान

# जैनविद्या

जैनविद्या संस्थान, श्री महावीरजी द्वारा प्रकाशित

वार्षिक

शोध-पत्रिका

अप्रैल, 2011-2012

सम्पादक मण्डल

श्री नगेन्द्रकुमार जैन

श्री महेन्द्रकुमार पाटनी

डॉ. जिनेश्वरदास जैन

डॉ. प्रेमचन्द राँवका

डॉ. अनिल जैन

श्री निर्मलकुमार जैन

सम्पादक

डॉ. कमलचन्द सोगाणी

प्रबन्ध सम्पादक

श्री प्रकाशचन्द्र जैन

मंत्री, प्रबन्धकारिणी कमेटी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी

सहायक सम्पादक

सुश्री प्रीति जैन

प्रकाशक

जैनविद्या संस्थान

प्रबन्धकारिणी कमेटी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी (राजस्थान)

**वार्षिक मूल्य**

30.00 रु. सामान्यतः

60.00 रु. पुस्तकालय हेतु

**मुद्रक**

जयपुर प्रिण्टर्स प्रा. लि.

जयपुर 302001

## विषय-सूची

क्र.सं.	विषय	लेखक का नाम	पृ.सं.
	प्रकाशकीय		(v)
	सम्पादकीय		(vii)
1.	'भगवती आराधना' के रचनाकार आचार्य शिवकोटि	श्री रमाकान्त जैन	1
2.	भगवती आराधना और संवेग रंगशाला	प्रो. (डॉ.) श्रीमती पुष्पलता जैन	5
3.	भगवती आराधना में वर्णित द्वादश भावनाओं का स्वरूप	डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल	17
4.	अप्पपसंसं परिहरह	आचार्य शिवार्य	34
5.	आचार्य शिवार्य-कृत 'भगवती आराधना' में समाधिमरण	डॉ. प्रेमचन्द्र रावका	35
6.	'भगवती आराधना' में समाधिमरण की आराधना विधि	डॉ. भागचन्द्र 'भास्कर'	43
7.	शिवार्यकृत भगवती आराधना में चित्रित 'समाहित चित्त' का स्वरूप एवं उपयोग : सल्लेखना के परिप्रेक्ष्य में	डॉ. पी. सी. जैन	59
8.	जो जारिसीय मेत्ती केरइ	आचार्य शिवार्य	72
9.	भगवती आराधना में प्रतिपादित मरण-समाधि-सल्लेखना	डॉ. कस्तूरचन्द्र 'सुमन'	73
10.	मेत्ति खमिदव्वं	आचार्य शिवार्य	84
11.	परवर्ती जैन हिन्दी काव्य पर 'भगवती आराधना' का प्रभाव	डॉ. वीरसागर जैन	85
12.	सो डज्झदि व ण वा परो	आचार्य शिवार्य	92

# जैनविद्या

(शोध-पत्रिका)

## सूचनाएँ

1. पत्रिका सामान्यतः वर्ष में एक बार, महावीर जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित होगी।
2. पत्रिका में शोध-खोज, अध्ययन-अनुसन्धान सम्बन्धी मौलिक अप्रकाशित रचनाओं को ही स्थान मिलेगा।
3. रचनाएँ जिस रूप में प्राप्त होंगी उन्हें प्रायः उसी रूप में प्रकाशित किया जाएगा। स्वभावतः तथ्यों की प्रामाणिकता आदि का उत्तरदायित्व रचनाकार का होगा।
4. यह आवश्यक नहीं कि प्रकाशक, सम्पादक लेखकों के अभिमत से सहमत हों।
5. रचनाएँ कागज के एक ओर कम से कम 3 सेण्टीमीटर का हाशिया छोड़कर टाइप की हुई होनी चाहिए।
6. अस्वीकृत/अप्रकाशित रचनाएँ लौटाई नहीं जायेंगी।
7. रचनाएँ भेजने एवं अन्य सब प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए पता-

सम्पादक

जैनविद्या

जैनविद्या संस्थान

दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी

सवाई रामसिंह रोड

जयपुर - 302 004

फोन नं. : 0141-2385247

ई-मेल : jainapa@sify.com

## प्रकाशकीय

जैनविद्या संस्थान की शोध-पत्रिका 'जैनविद्या' का यह अंक 'आचार्य शिवार्य विशेषांक' के रूप में प्रकाशित कर अत्यन्त प्रसन्नता है।

'आचार्य शिवार्य' 'आचार्य शिवकोटि' नाम से भी प्रसिद्ध रहे हैं। इनकी एक ही रचना उपलब्ध है - 'भगवती आराधना'। इसे 'मूलाराधना' भी कहा जाता है। यह प्राकृत भाषा में रचित एक आचारपरक ग्रन्थ है। इसका रचनाकाल ईसा की द्वितीय-तृतीय शताब्दी माना जाता है।

आचार्य शिवार्य ने अपने इस ग्रन्थ में मनुष्य-जन्म की दुर्लभता बताते हुए उसे सार्थक करने के लिए विषय-भोगों के त्यागपूर्वक धर्म-ध्यान की साधना व आराधना युक्त जीवन व्यतीत करते हुए अन्त में सल्लेखना व समाधिपूर्वक मरण की आवश्यकता पर बल दिया है। 'आराधना' पर ऐसी सांगोपांग रचना दूसरी नहीं है, इसलिए यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व लोकप्रिय रहा है।

जिन विद्वान लेखकों ने अपने लेखों द्वारा इस अंक के कलेवर-निर्माण में सहयोग प्रदान किया उन सब के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

पत्रिका के सम्पादक, सम्पादक मण्डल के सदस्य, सहयोगी सम्पादक - सभी धन्यवादार्ह हैं।

जस्टिस नगेन्द्रकुमार जैन  
अध्यक्ष

प्रकाशचन्द्र जैन  
मंत्री

प्रबन्धकारिणी कमेटी,  
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी



## सम्पादकीय

“आचार्य शिवार्य द्वारा रचित ‘भगवती आराधना’ जैन आचारशास्त्र-परम्परा का प्रमुख ग्रन्थ है।” इसे ‘मूलाराधना’ नाम से भी जाना जाता है। यह जैन साधुओं के आचार का वर्णन करनेवाला एक प्राचीन एवं वृहद् ग्रन्थ है।

आचार्य शिवार्य का दूसरा नाम ‘शिवकोटि’ भी था।

“डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ‘प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ’ में प्रकाशित अपने लेख - ‘भगवती आराधना के कर्ता शिवार्य’ में इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आचार्य का मूल नाम शिव था जिसके साथ ‘भूति’, ‘कोटि’, ‘कुमार’, ‘दत्त’ आदि शब्द उल्लेखकर्ताओं ने स्वरुचि अनुसार अथवा भ्रमवश जोड़ दिये हैं और यह कि ये शिवार्य भद्रबाहु द्वितीय के पश्चात् तथा आचार्य कुन्दकुन्द से पूर्व, सन् ईसवी के प्रारम्भ के लगभग हुए थे।”

आचार्य शिवार्य ने अपनी रचना में कहीं भी अपने समय का निर्देश नहीं किया, इससे इनका निश्चित समय का निर्धारण नहीं किया जा सका, किन्तु इनकी रचना ‘भगवती आराधना’ की टीकाओं के आधार पर इनके समय का आकलन किया गया है।

“आचार्य शिवार्य का समय आचार्य कुन्दकुन्द के आस-पास होना चाहिए।” डॉ. हीरालाल जैन ‘भगवती आराधना’ का रचनाकाल ईसा की द्वितीय-तृतीय शताब्दी मानते हैं।

“ ‘भगवती आराधना’ में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप-रूप चार आराधनाओं का कथन किया गया है।”

“ ‘भगवती आराधना’ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है - सल्लेखना और मरण के प्रकार। यद्यपि मरण के 17 भेद हैं, पर ग्रन्थकार ने इसमें पाँच प्रकार के ही मरणों का वर्णन किया है - 1. पण्डित-पण्डित मरण, 2. पण्डित मरण, 3. बाल पण्डित मरण, 4. बाल मरण और 5. बाल-बाल मरण। पण्डित मरण के तीन भेद हैं - भक्तप्रतिज्ञा, प्रायोपगमन और इंगिनीमरण। इन मरणों का विस्तार से वर्णन किया गया है।”



“अर्द्धमागधी मिश्रित शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध इस आराधना ग्रन्थ पर प्राकृत-संस्कृत आदि विभिन्न भाषाओं में अनेक टीकाएँ समय-समय पर रची गईं। इस समय उपलब्ध सबसे प्राचीन टीका अपराजित सूरि अपरनाम श्री विजय (समय लगभग 700 ई.) की संस्कृत में रचित ‘विजयोदया टीका’ मानी जाती है जिसमें कुछ पूर्ववर्ती टीकाओं के भी उल्लेख हैं।”

“भगवती आराधना की लोकप्रियता उसकी टीकाओं से आँकी जा सकती है। उपलब्ध टीकाओं का विवरण इस प्रकार है -

1. **विजयोदया टीका** - यह एक विस्तृत संस्कृत टीका है जिसमें साधुओं की आचार-प्रक्रिया का विस्तार से व्याख्यान किया गया है और अपने कथन को प्राकृत-संस्कृत के उद्धरणों से पुष्ट किया गया है। अपराजित सूरि अथवा श्री विजय-कृत यह टीका कदाचित् प्राचीनतम टीका है। टीकाकार ने अपनी टीका में जिन पाठान्तरों का उपयोग किया है वे भाषाविज्ञान की दृष्टि से अधिक प्राचीन कहे जा सकते हैं।

दूसरी टीका आशाधर-कृत ‘मूलाराधना दर्पण’ है। इन्होंने अपराजितसूरि का अनुकरण इस टीका में किया है और इसे ‘श्री विजय’ के नाम से उद्धृत किया है।”

“आचार्य शिवार्य या शिवकोटि के ग्रन्थ ‘भगवती आराधना’ पर प्राकृत, संस्कृत और हिन्दी में उपलब्ध टीकाओं में विक्रम की आठवीं शताब्दी के विद्वान अपराजित सूरि-कृत ‘विजयोदया टीका’, 11वीं शताब्दी के आचार्य अमितगति-कृत ‘संस्कृत आराधना’ और 13वीं शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्य पण्डित आशाधर-विरचित ‘मूलाराधना दर्पण’ विशेष प्रसिद्ध है।”

“‘भगवती आराधना’ की विजयोदया टीका में अनेक कथाएँ दी हैं जिनका सम्बन्ध विशेष रूप से आराधक की मरणावस्था से रहा है।”

“आचार्य शिवार्य ने इस ग्रन्थ का नाम ‘आराधणा’ ही कहा है - ‘वोच्छं आराधणा’ (गाथा 1); ‘आराधणा सिवज्जेण’ (गाथा 2160)। उन्होंने आराधना को समस्त प्रवचन का सार कहा है (गाथा 1497)। टीकाकार अपराजित सूरि ने भी अपनी टीका के अन्त में इसे ‘आराधना टीका’ ही कहा है (आराधणा भगवदी, गाथा 2162)। उत्तरकाल में इसके आधार पर लिखे गये ग्रन्थ भी ‘आराधना’ के नाम से जाने जाते हैं, जैसे - देवसेन-कृत ‘आराधनासार’, अमितगति-कृत ‘आराधना’, आशाधर-कृत ‘मूलाराधना दर्पण’। आराधना के आधार पर कुछ कथा ग्रंथों की भी रचना हुई है, जैसे - प्रभाचन्द्र-

कृत 'आराधना कथा प्रबन्ध', ब्रह्मनेमिदत्त-कृत 'आराधना कथाकोश', कन्नड़ आचार्य शिवकोटि-कृत 'वङ्काराधने'। परन्तु गाथा 2162 में 'आराधना भगवदी' एवं 'भक्तीए वणिदा सन्ति' के आधार पर इस ग्रन्थ का नाम 'भगवती आराधना' अधिक प्रसिद्ध हो गया। हमने भी इसे 'भगवती आराधना' ही स्वीकारा है।”

‘आराधना’ जीवनरूपी रंगशाला का उपसंहार है। यह वैराग्यमूलक ऐसा महाद्वार है जिसमें प्रवेश कर आराधक अपने जीवन को परम शान्ति की खोज में समर्पित कर देता है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में इसे समानरूप से महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। दिगम्बर सम्प्रदाय में मूलाचार आचारपरक ग्रंथ है। उसमें समाधिमरण पर विशेष व्याख्यान नहीं मिलता पर 'भगवती आराधना' में मुनि-आचार और मरणसमाधि दोनों का कथन उपलब्ध होता है। दिगम्बर परम्परा में भगवती आराधना के अतिरिक्त अन्य कोई विशेष मूलग्रंथ उपलब्ध नहीं है। जो भी हैं, प्रायः टीका रूप में हैं। इनमें अपराजितसूरि-कृत विजयोदया और आशाधर-कृत 'मूलाराधना दर्पण' विशेष उल्लेखनीय हैं।”

“श्रीचन्द्र (11वीं शती) ने अपने अपभ्रंश कथाकोश में यह संकेत किया है कि ये कथाएँ जिनेन्द्र से गणधर, गणधर से श्रेणिक और श्रेणिक से परम्परागत रूप से शिवकोटि मुनीन्द्र तक पहुँचीं। मूलाराधना में इन कथानकों का उपयोग बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है। श्रीचन्द्र ने गाथाओं को स्पष्ट करने में इन कथाओं का उपयोग किया है। वे पहले गाथा का अर्थ देते हैं और फिर कथा देकर उसकी व्याख्या करते हैं, इसलिए उन्होंने ऐसी गाथाओं को चुना है जिन्हें कथा के माध्यम से व्याख्यापित किया जा सकता है।”

“प्रभाचन्द्र (11वीं शती) का कथाकोश संस्कृत गद्य में है और प्राकृत-संस्कृत के उद्धरणों से भरा हुआ है। इसमें ऐसी धर्मकथाएँ दी गई हैं जिनमें चारों तरह की आराधनाओं के आराधकों का वर्णन है। इसे 'आराधना सत्कथा प्रबन्ध' कहा गया है।”

“‘वङ्काराधने’ नामक एक कथाकोश कन्नड़ भाषा में उपलब्ध है। मूडबिद्री के अनुसार इसे 'शिवकोट्याचार्य' की कृति कहा गया है। कोल्हापुर का ताड़पत्र प्रति (क्र. 45) में भी लगभग यही नाम मिलता है। इसमें 19 कथाएँ दी गई हैं।”

“‘वङ्काराधना’ भी 'भगवती आराधना' का ही एक कन्नड़ रूप है। पाठक ने जिन 'शिवकोट्याचार्य' का उल्लेख किया है वे 'शिवकोट्याचार्य' ही होने चाहिए।”

“श्वेताम्बर परम्परा में 'आराधना' पर अपेक्षाकृत अधिक साहित्य मिलता है। आगमिक ग्रंथों में आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, जीतकल्प, व्यवहार

निशीथ आदि ग्रंथों में मुनि आचार के साथ ही समाधिमरण की साधना का वर्णन हुआ है। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि में भी उस पर चिन्तन किया गया है। उत्तराध्ययन के पाँचवें अध्ययन में इसकी विस्तृत चर्चा है।”

“ ‘सल्लेखना’ शब्द जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है - ‘सम्यक्कायकषायलेखना’ अर्थात् सम्यक् प्रकार से काय और कषाय दोनों को कृश करना सल्लेखना है। आचार्य समन्तभद्र के अनुसार उपायरहित उपसर्ग, दुष्काल, बुढ़ापा तथा असाध्य रोग वगैरह के आने पर रत्नत्रय-स्वरूप धर्म का उत्तम रीति से पालन करने के लिए शरीर छोड़ना सल्लेखना है। जिस क्रिया में बाहरी शरीर और भीतरी रागादि कषायों का, उनके निमित्त कारणों को कम करते हुए हर्षपूर्वक बिना किसी दबाव के स्व-इच्छा से कृश किया जाता है, उस क्रिया का नाम सल्लेखना है।”

“सल्लेखना से अनन्त संसारी की कारणभूत कषायों का आवेग उपशान्त अथवा क्षीण हो जाता है तथा जन्म-मरण का चक्र बहुत ही कम हो जाता है। आचार्य शिवार्य सल्लेखना का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहते हैं - ‘जो जीव एक ही पर्याय में समाधिपूर्वक मरण करता है वह सात-आठ पर्याय से अधिक संसार में परिभ्रमण नहीं करता।’ उन्होंने सल्लेखना का महत्त्व बताते हुए यहाँ तक लिखा है कि ‘जो व्यक्ति अत्यन्त भक्ति के साथ सल्लेखनाधारक (क्षपक) के दर्शन-वन्दन-सेवादि के लिए निकट जाता है वह व्यक्ति भी देवगति के सुखों को भोगकर अन्त में उत्तम स्थान (निर्वाण) को प्राप्त करता है।”

“सल्लेखना में देह और कषाय दोनों का कृश होना आवश्यक है। केवल शरीर का कृश होना सार्थक नहीं है, निष्फल है। व्रतादि इसमें परम सहायक हैं। व्रतों से दोनों की साधना संभव है। समाधिपूर्वक मरण ही कल्याणकारी है। देह-विसर्जन में हर्षित हो और किसी प्रकार की आकांक्षा न करे।”

“जैन-धर्म-दर्शन में समाधिपूर्वक मरण सर्वोपरि विशेषता है। मुनि हो या श्रावक, सबका लक्ष्य समाधिपूर्वक मरण की ओर रहता है। मुनि और उत्कृष्ट श्रावक अपनी नित्य भक्ति में समाधिमरणार्थ भावना भाते हैं। इस भक्ति भावना में मानवीय जीवन का इहलोक और परलोक अभ्युदय एवं निःश्रेयस निर्धारित है। आचार्य शिवार्य के ‘भगवती आराधना’ ग्रंथ में समाधिपूर्वक मरण की पर्याप्त शिक्षा-सामग्री व व्यवस्था प्राप्त होती है। मुनि आचारपरक यह ग्रंथ मरण के भेदों-प्रभेदों से पूरित है।”

“आचार्य शिवकोटि ने ‘भगवती आराधना’ में सल्लेखनाधारक के लिए समाहित चित्तवाला होना आवश्यक बताया है। उन्होंने समाहित चित्त की महत्ता बताते हुए कहा है - जिसका चित्त अशुभ परिणामों को छोड़ देता है तथा उसे जहाँ लगाया जाए वहीं ठहरा रहता है, जिसने साधुलिंग स्वीकार किया है, जो ज्ञान-भावना में निरन्तर तत्पर है तथा जो शास्त्र-निरूपित विनय का पालन करता है तथा जिसका हृदय निरन्तर रत्नत्रय में लीन हो वह सम्यक् समाधि आराधने योग्य है। ऐसा चित्त समाहित चित्त होता है। आगे कहते हैं कि जिसका चित्त अशुभ परिणामों के प्रवाह से रहित और वशवर्ती होता है वह चित्त समाहित होता है। वह समाहित चित्त बिना थके निरतिचार चारित्र के भार को धारण करता है।”

“ ‘भगवती आराधना’ आचार्य शिवार्य का एक ऐसा सरस और लोकप्रिय ग्रंथ है कि उसका उसके रचनाकाल से लेकर अबतक अनवरतरूप से परम आदरपूर्वक पठन-पाठन होता रहा है। न केवल पठन-पाठन होता रहा है अपितु परवर्ती साहित्यकारों की रचनाओं पर उसका अत्यधिक प्रभाव भी पड़ा है। प्रमाणस्वरूप मध्यकालीन हिन्दी-जैन-साहित्य से अनेक उद्धरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं।”

“कविवर दौलतराम और दानतराय की भाँति कविवर मंगतराय के काव्य पर भी ‘भगवती आराधना’ का विशेष प्रभाव देखने को मिलता है। विक्रम की 18वीं शताब्दी के मूर्धन्य कवि महाकवि भूधरदास के काव्य पर भी ‘भगवती आराधना’ का अत्यधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।”

“इसके अतिरिक्त कविवर सूरचन्द्र ने तो अपनी प्रसिद्ध रचना ‘समाधिमरण पाठ भाषा’ का निर्माण ही पूरी तरह ‘भगवती आराधना’ के आधार पर किया है। उसके लगभग सभी छन्दों पर ‘भगवती आराधना’ का गहरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण भी उन्हीं सुकुमाल, सुकौशल, गजकुमार, सनत्कुमार, एणिकसुत, भद्रबाहु, ललितघटादि, धर्मघोष, श्रीदत्त, वृषभसेन, अभयघोष, विद्युच्चर, चिलातपुत्र, दंडक, अभिनन्दनादि, सुबन्धु, आदि समाधिप्राप्त मुनियों के दिये हैं जो भगवती आराधना में उपलब्ध होते हैं। प्रमाणस्वरूप ग्रंथ की 1534 से 1556 तक की गाथाएँ देखनी चाहिए।”

“ ‘भगवती आराधना’ परवर्ती हिन्दी-जैन-साहित्य का एक अत्यन्त प्रमुख आधार ग्रंथ रहा है। यदि यह भी कह दिया जाए कि षट्खंडागम, समयसार, महापुराण आदि अनेक ग्रंथों की भाँति यह भी परवर्ती जैन-साहित्य का एक प्रधान उपजीव्य ग्रंथ रहा है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।”

इस विशेषांक के लेख 'भगवती आराधना' के दो संस्करणों पर आधारित हैं -  
1. आचार्य श्री अपराजित सूरि-रचित 'विजयोदया टीका' व उस पर आधारित सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री-कृत हिन्दी अनुवाद, इसका प्रकाशन जैन संस्कृति संरक्षण संघ, शोलापुर से हुआ है, 2. द्वितीय संस्करण पण्डित सदासुखदासजी जैन (कासलीवाल) कृत ढूँढारी भाषा टीका है, इसके प्रकाशक हैं - प्रकाशचंद शीलचंद जैन जौहरी, 1266, चाँदनी चौक, दिल्ली-6। इन दोनों टीकाओं/संस्करणों में गाथा संख्या में मतैक्य नहीं है। शोलापुर से प्रकाशित संस्करण में कुल 2164 गाथाएँ हैं और दिल्ली से प्रकाशित संस्करण में 2179। इसलिए सन्दर्भों में भी गाथा संख्या का अंतर है। अतः प्रत्येक लेख में उसके आधार-संस्करण का उल्लेख किया गया है जिससे सन्दर्भ ज्ञात करने में सहजता रहे।

यह विशेषांक जिन विद्वानों के महत्त्वपूर्ण लेखों से आकार प्राप्त कर सका उन विद्वानों के हम आभारी हैं और भविष्य में भी सहयोग की अपेक्षा करते हैं।

संस्थान समिति, सम्पादक मण्डल, सहयोगी सम्पादक एवं सहयोगी कार्यकर्ताओं के प्रति भी आभारी हैं। मुद्रण हेतु जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि., जयपुर धन्यवादार्ह है।

**डॉ. कमलचन्द सोगाणी**

## ‘भगवती आराधना’ के रचनाकार आचार्य शिवकोटि

- (स्व.) श्री रमाकान्त जैन



### स्मरण

शीतीभूतं जगद्यस्य वाचाराध्यचतुष्टयम्।

मोक्षमार्गं स पायान्नः शिवकोटिर्मुनीश्वर॥1॥<sup>1</sup>

- जिनके वचनों से सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप-रूप चतुष्टय की आराधना द्वारा मोक्षमार्ग की आराधना कर जगत के जीव शीतलता का अनुभव करते हैं (सुखी होते हैं) वे शिवकोटि मुनीश्वर हमारी रक्षा करें।

तस्य (समन्तभद्रस्य) एव शिष्यशिवाकोटिसूरिस्तपोलतालम्बनदेहयष्टिः।

संसार-वाराकर-पोतमेतत्तत्त्वार्थसूत्रं तदलन्चकार ॥2॥<sup>2</sup>

- उन (समन्तभद्र) के ही शिष्य शिवकोटि सूरि हैं जिन्होंने तपश्चरण द्वारा अपनी देहयष्टि लता के समान झुका ली है और जिन्होंने संसार-सागर को पार करानेवाले जहाज के समान इस तत्त्वार्थ सूत्र की रचना की।

\* यह लेख लेखक के मरणोपरांत उनके परिवारजनों से प्राप्त हुआ है।

शिष्यौ तदीयौ शिवकोटिनामा शिवायनः शास्त्रविदां वरेण्यौ।

कृत्स्नं श्रुतं श्रीगुरुपादमूले ह्यधीतवन्तौ भवतः कृतार्थौ॥3॥<sup>3</sup>

- उन (स्वामी समन्तभद्र) के शिवकोटि और शिवायन नाम के दो शिष्य थे जो शास्त्र के ज्ञाताओं में श्रेष्ठ थे और जिन्होंने श्री गुरुजी के चरणों में रहकर सम्पूर्ण श्रुत (शास्त्रों) का अध्ययन कर लोक को कृतार्थ किया।

शिवकोटिप्रद वंदे शरण्यमभिनंदनं।

स्वयंवर-महाराज-सिद्धार्था-स्वामिनी-सुतं ॥4॥<sup>4</sup>

- मैं शिवकोटि (=मोक्ष) प्रदान करनेवाले अर्थात् मोक्ष का मार्ग बतानेवाले उन शिवकोटि मुनि की वन्दना करता हूँ जिन्होंने महाराज स्वयंवर और महारानी सिद्धार्था के पुत्र (चौथे तीर्थंकर) भगवान अभिनन्दननाथ की शरण ली है।

श्री शिवकोटिमुनीश्वरपुरोगमाः स्ववगतागमा नृणां।

ज्ञानतपश्चारित्रं सदर्शनं दर्शयामासुः॥5॥<sup>5</sup>

- पूर्वाचार्यों के माध्यम से आगमों से भली-भाँति परिचित हुए श्री शिवकोटि मुनीश्वर ने (सम्यक्) दर्शन सहित (सम्यक्) ज्ञान, (सम्यक्) तप और (सम्यक्) चारित्र का दर्शन कराया।

### पहचान

ऊपर प्रथम श्लोक में आचार्य जिनसेन (समय लगभग 770-850 ई.) ने अपने 'आदिपुराण' में मोक्षमार्ग बतानेवाली 'चतुष्टय आराधना' के कर्ता के रूप में शिवकोटि मुनि का स्मरण किया है। हरिषेण व चामुण्डराय प्रभृति कुछ परवर्ती ग्रन्थकारों ने तथा डॉ. ए. एन. उपाध्ये और डॉ. बी. के. खड्गबड़ी प्रभृति कुछ आधुनिक विद्वानों ने भी प्राकृत 'आराधना' ग्रन्थ का रचयिता शिवकोटि आचार्य को माना है। कन्नड़ भाषा में रचित 'वड्डाराधने' के कर्ता भी सामान्यतः शिवकोटि आचार्य माने जाते हैं, किन्तु डॉ. खड्गबड़ी ने अपनी पुस्तक 'वड्डाराधने : ए स्टडी' में किये गये विवेचन में 10वीं शती ईस्वी के प्रथम पाद में कन्नड़ में शिवकोट्याचार्य प्रणीत 'वड्डाराधने' के कवच अधिकार पर आधारित 19 कथाओं के इस संग्रह को किसी अज्ञातनामा व्यक्ति की कृति बताया है। इस प्रकार आचार्य जिनसेन, जो 8वीं-9वीं शती में हुए, द्वारा उक्त कन्नड़ 'वड्डाराधने' के कथाकथित कर्ता शिवकोटि मुनि का उक्त श्लोक में स्मरण करने का प्रश्न नहीं उठता।

वस्तुतः 'आराधना' अपरनाम 'भगवती आराधना' जिसे 'मूलाराधना' भी कहते हैं, के कर्ता, जैसा कि उक्त ग्रन्थ की गाथा संख्या 2159-60 में स्वयं उसके रचनाकार ने लिखा है - 'पाणितलभोजी शिवार्य हैं जिन्होंने अपने गुरु आर्य जिननन्दिगणि, आर्य सर्वगुप्तगणि और आर्य मित्रनन्दिगणि के चरणों में (मूल) सूत्रों और उनके अर्थों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया था तथा पूर्वाचार्यों द्वारा निबद्ध ग्रन्थों के आधार पर इस 'आराधना' ग्रन्थ की स्वशक्ति अनुसार रचना की थी।' अर्द्धमागधी मिश्रित शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध 2164 गाथाओं वाले इस आराधना ग्रन्थ पर प्राकृत-संस्कृत आदि विभिन्न भाषाओं में अनेक टीकाएँ समय-समय पर रची गईं। इस समय उपलब्ध सबसे प्राचीन टीका अपराजित सूरि अपरनाम श्री विजय (समय लगभग 700 ई.) की संस्कृत में रचित 'विजयोदया टीका' मानी जाती है जिसमें कुछ पूर्ववर्ती टीकाओं के भी उल्लेख हैं।

'आराधना' की गाथा संख्या 1539 में आचार्य भद्रबाहु का घोर पीड़ा के बावजूद शान्तिपूर्ण मरण का जिस प्रकार वर्णन किया गया उससे विद्वानों का अनुमान है कि वह आचार्य भद्रबाहु द्वितीय (समय लगभग 37-14 ईसापूर्व) के प्रायः समकालीन रहे होंगे। 'श्रुतावतार' में आचार्य भद्रबाहु द्वितीय के उपरान्त जिन चार आरातीय यतियों का उल्लेख है उनमें एक शिवदत्त हैं। आचार्य कुन्दकुन्द (समय लगभग 8 ई. पू.-44 ई.) ने अपने 'भावपाहुड' में एक 'शिवभूति' नामक मुनि का तथा एक अन्य स्थान पर 'शिवकुमार' नामक भावश्रमण का ससम्मान उल्लेख किया है। श्वेताम्बर ग्रन्थ 'मूलभाष्य' और 'कल्पसूत्र-स्थविरावली' में बोटिक संघ (दिगम्बर सम्प्रदाय) के मूल संस्थापक के रूप में किन्हीं 'शिवभूति' का उल्लेख किया गया है।

प्रो. हीरालाल जैन ने नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल नं. 1 में 'शिवभूति और शिवार्य' विषयक अपने लेख में 'भगवती आराधना' के कर्ता शिवार्य तथा श्वेताम्बर ग्रंथों में उल्लिखित शिवभूति को अभिन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन 'प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ' में प्रकाशित अपने लेख 'भगवती आराधना के कर्ता शिवार्य' में इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आचार्य का मूल नाम 'शिव' था, जिसके साथ 'भूति', 'कोटि', 'कुमार', 'दत्त' आदि शब्द उल्लेखकर्ताओं ने स्वरुचि अनुसार अथवा भ्रमवश जोड़ दिये हैं, और यह कि ये शिवार्य भद्रबाहु द्वितीय के पश्चात् तथा आचार्य कुन्दकुन्द से पूर्व, सन् ईस्वी के प्रारम्भ के लगभग



हुए थे। सामान्यतः 'पाणितलभोजी' दिगम्बर मुनि का विशेषण माना जाता है, किन्तु कतिपय अन्तर्साक्ष्यों और बहिर्साक्ष्यों के आधार पर पं. नाथूराम प्रेमी ने अपने 'जैन साहित्य और इतिहास' में 'यापनीयों का साहित्य' शीर्षक लेख में 'शिवार्य' को यापनीय सम्प्रदाय (दिगम्बर और श्वेताम्बर के मध्य की धारा) का माना है। वस्तुतः शिवार्य उस युग के हैं जब दिगम्बर-श्वेताम्बर विभेद होने पर उनके मध्य समन्वय के लिए प्रयत्नशील जैन साधुओं में एक स्वतंत्र विचारधारा जन्म ले रही थी।

श्रवणबेलगोल की सिद्धरवस्ती में स्तम्भ लेख, जो क्रमांक 2 पर उद्धृत है, में उल्लिखित समन्तभद्र के शिष्य 'शिवकोटि' और अय्यपार्य के जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' से क्रमांक 3 पर उद्धृत श्लोक में समन्तभद्र के शिष्य रूप में उल्लिखित 'शिवकोटि' और 'शिवायन' उपर्युक्त 'भगवती आराधना' के कर्ता 'शिवार्य' से सर्वथा भिन्न हैं। डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने The Jaina Sources of the History of Ancient India में उक्त शिवकोटि को स्वामी समन्तभद्र (समय लगभग 120-185 ई.) का राजवंशी शिष्य बताया है जिन्होंने, कहा जाता है, अपने गुरु की सलाह से अपने भाई शिवायन के साथ संन्यास लेकर मुनि दीक्षा ले ली थी। यह भी कहा जाता है कि उक्त 'शिवकोटि' ने आचार्य उमास्वामि के 'तत्त्वार्थसूत्र' पर 'रत्नमाला' नामक टीका रची थी। उन्होंने उक्त 'शिवकोटि' के जैनधर्म के प्रति अनुराग रखनेवाले कदम्बवंशी द्वितीय शासक शिवस्कन्धश्री से, जिसने अपने पुत्र श्रीकण्ठ के पक्ष में राजसिंहासन का परित्याग किया था, अभिन्न होने की संभावना व्यक्त की है। कदाचित् क्रमांक 4 व 5 पर उद्धृत श्लोकों में भी इन्हीं 'शिवकोटि' का ससम्मान स्मरण किया गया है।



\* यह लेख जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर से प्रकाशित संस्करण पर आधारित है।

1. जिनसेन कृत आदिपुराणम्, प्रथमं पर्व, श्लोक सं. 49।
2. जैन-शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग में संख्या 105 पर उद्धृत श्रवणबेलगोल विन्ध्य गिरि में सिद्धरवस्ती के निकट शक संवत् 1320 के एक स्तम्भ-लेख का अंश।
3. अय्यपार्य रचित जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय के अन्त भाग में श्लोक 5।
4. भ. श्रुतसागर, यशोधरचरित्र, आदिभाग, श्लोक सं. 4।
5. पं. गोविन्द, पुरुषार्थानुशासन, आदिभाग, श्लोक सं. 19।

## भगवती आराधना और संवेग रंगशाला

- प्रो. (डॉ.) श्रीमती पुष्पलता जैन



आचार्य शिवार्य द्वारा रचित 'भगवती आराधना' जैन आचारशास्त्र-परम्परा का प्रमुख ग्रन्थ है। इसमें मरणकाल में आराधना के स्वरूप का विस्तृत विवेचन है। मरणकाल के पूर्व का जीवन सम्यक् चारित्रिक अभ्यास से भरा होना चाहिए तभी आराधना में परिपक्वता आ पाती है। इसे मरणसमाधि कहा गया है। यही यथार्थ साधना है। इसमें विफल होने पर जीवन की समूची साधना निष्फल हो जाती है।

इस आलेख में हम आराधना विषयक उपलब्ध साहित्य का विवरण देते हुए आचार्य शिवार्य और उनकी 'भगवती आराधना' की तुलना श्वेताम्बरीय ग्रन्थ 'संवेग रंगशाला' से करने का प्रयत्न करेंगे।

### सल्लेखना की पृष्ठभूमि

सल्लेखना या समाधिमरण की पृष्ठभूमि में मुख्य उद्देश्य रहता है सांसारिक वासनाओं से मुक्त होकर जीवन के अन्तिम समय को आत्मसाधना में लगाना और रत्नत्रय का परिपालन करते हुए शरीर को छोड़ना। यह एक लम्बी दुस्साध्य प्रक्रिया है जिससे कर्मों से निवृत्त होकर मोक्ष पद प्राप्त किया जा सकता है। इस

साध्य की प्राप्ति के लिए जैनाचार्यों ने शरीर की अनित्यता और अशुचिता को व्यक्त करते हुए उसके प्रति साधक के मन में वितृष्णा और वैराग्य को जाग्रत करने का सफल प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए समाधि के स्वरूप को स्पष्ट किया है और स्वानुभूति के माध्यम से सिद्धत्व की प्राप्ति का मार्ग दिखाया है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मिथ्यात्व का त्यागकर, स्व-पर भेदविज्ञान के साथ संपूर्ण परिग्रह से दूर होकर दिगम्बर मुद्रा धारण करना आवश्यक है।

### आराधना

आचार्य शिवार्य ने इस ग्रन्थ का नाम 'आराधना' ही कहा है - **वोच्छं आराधणां** (गाथा 1); **आराधणा सिवज्जेण** (गाथा 2160)। उन्होंने आराधना को समस्त प्रवचन का सार कहा है (गाथा 1497)। टीकाकार अपराजित सूरि ने भी अपनी टीका के अन्त में इसे आराधना टीका ही कहा है (आराधना भगवदी, गाथा 2162)। उत्तरकाल में इसके आधार पर लिखे गये ग्रन्थ भी 'आराधना' के नाम से जाने जाते हैं, जैसे देवसेन-कृत 'आराधनासार', अमितगति-कृत 'आराधना', आशाधर-कृत 'मूलाराधना दर्पण'। 'आराधना' के आधार पर कुछ कथा-ग्रन्थों की भी रचना हुई है। जैसे प्रभाचन्द्र-कृत 'आराधना कथा प्रबन्ध', ब्रह्मनेमिदत्त-कृत 'आराधना कथाकोश', कन्नड़ आचार्य शिवकोटि-कृत 'वड्डाराधने'। परन्तु गाथा 2162 में 'आराधना भगवदी एवं भतीए वण्णिदा सन्ति' के आधार पर इस ग्रन्थ का नाम 'भगवती आराधना' अधिक प्रचलित हो गया। हमने भी इसे 'भगवदी आराधना' ही स्वीकारा है।

जिनरत्नकोश में 'आराधना' पर उपलब्ध साहित्य की एक सूची दी गई है जो इस प्रकार है -

1. **आराधनासार** - आचार्य देवसेन (10वीं शती) द्वारा लिखित इस ग्रन्थ में 115 प्राकृत गाथाएँ हैं जिनमें चारों प्रकार की आराधनाओं का वर्णन किया गया है। इस पर रत्नकीर्ति ने संस्कृत टीका लिखी है। आचार्य गुणभद्र-कृत आत्मानुशासन, आचार्य अमृतचन्द्र-कृत समयसारकलश, आचार्य शुभचन्द्र-कृत ज्ञानार्णव आदि ग्रन्थों से इसमें उद्धरण दिये गये हैं।

2. **आराधनामाला** - इसे 'संवेग रंगशाला' भी कहा जाता है। इसमें 10,053 प्राकृत गाथाएँ हैं। जिनेश्वर सूरि के शिष्य जिनचन्द्र सूरि ने यह ग्रन्थ

प्रसिद्ध वृत्तिकार अभयदेव की प्रार्थना पर लिखा था। इसकी रचना सं. 1125 (1068 ई.) में हुई। डॉ. उपाध्ये ने कुछ गाथाओं के उद्धरण देकर यह विचार व्यक्त किया है कि जिनचन्द्र सूरि के समक्ष 'भगवती आराधना' रही है।

3. देवभद्र-कृत आराधना,
4. आराधना विधि,
5. देवभद्र-कृत आराधनासार,
6. कुलप्रभ-कृत आराधना सत्तरी,
7. रविचन्द्र, जयशेखर, नागसेन और लोकाचार्य द्वारा लिखित आराधनासार,
8. आराधनास्तव,
9. आराधना स्वरूप,
10. आराधना प्रकरण,
11. आराधना पताका - वीरभद्र सूरि (सं. 1078) द्वारा रचित इस ग्रन्थ में 990 गाथाएँ हैं।
12. आराधना कुलक - इस नाम से चार ग्रन्थ मिलते हैं जिनके लेखक हैं - अभयदेव सूरि (11वीं शती) आदि आचार्य।
13. आराधना पंचक,
14. आराधना (पर्यन्त) - सोम सूरि द्वारा रचित यह ग्रन्थ 70 प्राकृत गाथाओं में है।
15. आराधना श्रावक - समयसुन्दर सूरि (सं. 1669) द्वारा रचित,
16. आराधना - अजितदेव सूरि द्वारा लिखित (1629 सं.)।

### भगवती आराधना

भगवती आराधना में कुल 2170 गाथाएँ हैं। इसकी टीकाओं में गाथासंख्या में मतैक्य नहीं है। अपराजित सूरि द्वारा मान्य कतिपय गाथाएँ (क्र. 151, 343 आदि) अमितगति और आशाधर द्वारा स्वीकृत नहीं हैं। आशाधर ने बहुत-सी ऐसी गाथाओं का उल्लेख किया है जिन पर अपराजित ने टीका नहीं लिखी (गाथा क्र. 117-9, 178, 1354, 1432, 1556, 1605-7, 1639-40, 1978, 2111, 2135 आदि)। पं. कैलाशचन्द्रजी ने शोलापुर की मुद्रित प्रति और हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर तुलनात्मक दृष्टि से 2170 के स्थान पर 2165

गाथाओं का नियोजन किया है। आशाधर ने अपने 'मूलाराधना दर्पण' को आठ आशवासों में विभक्त किया है, पर मूल ग्रन्थ में ऐसा कोई विभाजन नहीं है।

### भगवती आराधना की टीकाएँ

भगवती आराधना की लोकप्रियता उसकी टीकाओं से आँकी जा सकती है। अवन्ती सुकुमाल, चाणक्य, चिलादपुत्र, सुकोशल आदि में इसकी अनेक गाथाएँ यथावत् मिलती हैं। उपलब्ध टीकाओं का विवरण इस प्रकार है -

1. **विजयोदया टीका** - यह एक विस्तृत संस्कृत टीका है जिसमें साधुओं की आचार-प्रक्रिया का विस्तार से व्याख्यान किया गया है और अपने कथन को संस्कृत-प्राकृत के उद्धरणों से पुष्ट किया गया है। अपराजित सूरि अथवा श्रीविजय-कृत यह टीका कदाचित् प्राचीनतम टीका है। टीकाकार ने अपनी टीका में जिन पाठान्तरों का उपयोग किया है वे भाषाविज्ञान की दृष्टि से अधिक प्राचीन कहे जा सकते हैं। हमने उसी का अनुसरण करने का प्रयत्न किया है। 'दशवैकालिकसूत्र' पर भी इन्होंने टीका लिखी थी। प्रशस्ति के अनुसार अपराजित सूरि बलदेव सूरि के शिष्य और महाकर्म प्रकृत्याचार्य तथा बलदेव सूरि के प्रशिष्य थे। ये आरातीय साधुओं के प्रमुख थे। आचार्य नागनन्दी की प्रेरणा से इन्होंने यह टीका लिखी थी। पं. आशाधर के पूर्ववर्ती विद्वान के रूप में इनका स्मरण किया जा सकता है जिन्होंने अपनी अनागार धर्माभूत टीका (सं.1300-57=) 1243 ई. में पूरी की थी। इस टीका में अपराजित सूरि का अनेक बार उल्लेख हुआ है। अपराजित सूरि आचारांग, सूत्रकृतांग, कल्पसूत्र दशवैकालिक आदि प्राचीन ग्रन्थों से भलीभाँति परिचित थे। इसी के साथ ही इन्होंने कुन्दकुन्द, उमास्वाति, समन्तभद्र, पूज्यपाद और जटासिंहनन्दि के ग्रन्थों को भी उद्धृत किया है। अतः आचार्य अपराजितसूरि का समय 8वीं से 10वीं शती के बीच होना चाहिए। ये कदाचित् यापनीय संघ के आचार्य थे। यह उल्लेखनीय है कि इनकी इस टीका में 'आचेलक्य कल्प' का वर्णन है और 'वस्त्रपात्रवाद' की समीक्षा भी। जिनकल्प का उच्छेद हुआ इसे टीकाकार ने स्वीकार नहीं किया।

2. दूसरी टीका आशाधर-कृत 'मूलाराधना दर्पण' है। इन्होंने अपराजित सूरि का अनुकरण इस टीका में किया है और इसे 'श्रीविजय' के नाम से उद्धृत किया है। इन्होंने 'टीकाकारौ व्याचक्रतुः' कहकर यह भी संकेत किया है कि

मूलाचार पर उस समय अनेक टीकाएँ प्रचलित थीं। इनमें कदाचित् एक प्राकृत टीका भी थी (पृ. 643, 744, 763)। इसी संदर्भ में इन्होंने टिप्पणकारों के रूप में जयनन्दी और श्रीचन्द्र के नामों का भी उल्लेख किया है। अमितगति-कृत 'संस्कृत आराधना' इनके समक्ष थी ही। दोनों आराधनाओं में से शिवार्य की आराधना का पाठ इन्हें अधिक अनुकूल लगा। रामसेन के तत्त्वानुशासन और शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव से भी इन्होंने कुछ पद्य उद्धृत किये हैं। सिद्धान्तरत्नमाला और विदग्धप्रीतिवर्धिनी से भी इन्होंने उद्धरण दिये हैं पर ये ग्रन्थ शायद अभी तक उपलब्ध नहीं हुए।

3. किसी अज्ञात लेखक की आराधना पंजिका (लगभग 15वीं शती),

4. शिवजित् अरुण कृत (सं. 1818), भावार्थ दीपिका

5. किसी दिगम्बराचार्य द्वारा प्राकृत टीका की गई है जो आज उपलब्ध नहीं है।

6. पं. आशाधर स्थान-स्थान पर 'अन्ये' और 'अपरे' शब्दों का प्रयोग करते हैं जिससे ऐसा आभास होता है कि भगवती आराधना पर कुछ और भी संस्कृत टीकाएँ थीं जो आज उपलब्ध नहीं हैं।

7. अमितगति-कृत संस्कृत पद्यानुवाद तो उपलब्ध है ही। इसके अतिरिक्त दो संस्कृत पद्यानुवाद और भी होने चाहिए जिनका उल्लेख आशाधर ने किया है।

8. जयनन्दि और श्रीचन्द्र-कृत दो टिप्पणों का भी उल्लेख आशाधर ने किया है। इनमें श्रीचन्द्र कदाचित् वही हों जिन्होंने पुष्पदन्त के उत्तरपुराण तथा रविषेण के पद्मचरित पर टिप्पण लिखे थे। ये भोजदेवकालीन (10वीं शती) थे।

### आराधना कथाकोश

'भगवती आराधना' की विजयोदया टीका में अनेक कथाएँ दी हैं जिनका सम्बन्ध विशेषरूप से आराधक की मरणावस्था से रहा है। विभिन्न गणगच्छ के साधु मरणासन्न व्यक्ति को समाधिमरण-काल में ये कथाएँ सुनाया करते थे ताकि वह विकथाओं और सांसारिक आसक्तियों से बच सके (गा. 651-655)। इन कथाओं को उत्तराध्ययन और निर्युक्तियों में खोजा जा सकता है। हरिषेण, प्रभाचन्द्र, नयनन्दि, नेमिदत्त और श्रीचन्द्र के कथाकोशों में तो आराधना की गाथाओं को उद्धृत करते हुए कथाएँ दी गई हैं। आशाधर ने भले ही उनका उल्लेख नहीं

किया हो पर उन्होंने प्राकृत टीका और उसमें उल्लिखित कथाओं की ओर संकेत अवश्य किया है (गा. 35-44)। हरिषेण आदि कथाकारों ने कदाचित् वहीं से कथा-स्रोत लिये हों।

श्रीचन्द्र (11वीं शती) ने अपने अपभ्रंश कथाकोश में यह संकेत किया है कि ये कथाएँ जिनेन्द्र से गणधर, गणधर से श्रेणिक, और श्रेणिक से परम्परागत रूप से शिवकोटि मुनीन्द्र तक पहुँची। मूलाराधना में इन कथानकों का उपयोग बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है। श्रीचन्द्र ने गाथाओं को स्पष्ट करने में इन कथाओं का उपयोग किया है। वे पहले गाथा का अर्थ देते हैं और फिर कथा देकर उसकी व्याख्या करते हैं। इसलिए उन्होंने ऐसी गाथाओं को चुना है जिन्हें कथा के माध्यम से व्याख्यापित किया जा सकता है। इसमें संस्कृत का भी उपयोग किया गया है।

प्रभाचन्द्र (11वीं शती) का कथाकोश संस्कृत गद्य में है और संस्कृत-प्राकृत के उद्धरणों से भरा हुआ है। इसमें ऐसी धर्मकथाएँ दी गई हैं जिनमें चारों तरह की आराधनाओं के आराधकों का वर्णन है। इसे 'आराधना सत्कथा प्रबन्ध' कहा गया है। इसमें 'भगवती आराधना' की गाथाओं के साथ पात्रकेशरी, अकलंक, सनतकुमार, समन्तभद्र और संजयन्त की कथाएँ दी गई हैं और सम्यक्त्व के आठ गुणों का वर्णन किया गया है। इसमें प्रभाचन्द्र पण्डित और प्रभाचन्द्र भट्टारक का नाम आया है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि इस ग्रन्थ की रचना इन दोनों लेखकों ने अलग-अलग की हो। नेमिदत्त (16वीं शती) का 'आराधना कथाकोश' प्रभाचन्द्र के 'कथाकोश' पर आधारित है। अन्तर यह है कि प्रभाचन्द्र ने 122 कथाएँ दी हैं जबकि नेमिदत्त ने 114। उन्होंने कथाओं की पुनरावृत्ति छोड़ दी है। लेखक ने विद्यानन्दि, मल्लिषेण, सिंहनन्दि और श्रुतसागर भट्टारकों का उल्लेख किया है। नयनन्दि की 'आराधना' अपभ्रंश में है और उसके दो भाग हैं - एक भाग में 56 सन्धियाँ हैं और दूसरे भाग में 58 सन्धियाँ हैं।

'बड्ढाराधने' नामक एक कथाकोश कन्नड़ भाषा में उपलब्ध है। मूडबिद्री के अनुसार इसे शिवकोट्याचार्य की कृति कहा गया है। कोल्हापुर की ताड़पत्र प्रति (क्र. 45) में भी लगभग यही नाम मिलता है। इसमें 19 कथाएँ दी गई हैं (गा.क्र. 1539-1557) - ई पेल्ल पत्तोवत्तु कथेगल (1) शिवकोट्याचार्यद् पेल्ल बोड्डाराधनेय कवचवु मंगल महाश्री। मंत्रशास्त्र में 'कवच' शब्द का

प्रयोग आराधक को आपदाओं से सुरक्षित रखने के लिए एक माध्यम के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैन परम्परा में साधारणतः इस शब्द का प्रयोग नहीं मिलता फिर भी इसका सम्बन्ध पद्मावती, ज्वालामालिनी जैसी देवियों के साथ जोड़ा जा सकता है। 'पद्मावती कवच' शीर्षक से मंत्रशास्त्रों का उल्लेख मिलता है जिनका उपयोग परीषहों पर विजय प्राप्त करने से रहा होगा। 'जीतकल्पसूत्र' भाषा में 'कवच द्वार' का उल्लेख आता है (गाथा 476-490)। इसके अतिरिक्त प्रकीर्णकों में 'कवचद्वार' नामक प्रकीर्णक भी हैं। 'भगवती आराधना' के रचयिता (शिवाय) के साथ 'कवच' शब्द जुड़ा रहने से ऐसा आभास होता है कि भगवती आराधना में (गाथा 1509-1682) इस कवच को उपन्यस्त किया गया है जिससे साधक विपदाओं से बच सके। कथा भाग की प्रारम्भिक प्राकृत गाथाओं से भी स्थिति स्पष्ट हो जाती है। श्रीचन्द्र ने वृषभसेन कथा के बाद "कवचा ही यारो..." वाक्य लिखा है जिससे पता चलता है कि 19 कथाओं के बाद कवच भाग क्यों समाप्त होता है। 'वड्डाराधना' भी 'भगवती आराधना' का ही एक कन्नड़ रूप है। पाठक ने जिन 'रेवाकोट्याचार्य' का उल्लेख किया है वे 'शिवकोट्याचार्य' ही होना चाहिए।

### आचार्य शिवाय और उनका समय

आचार्य शिवाय ने स्वयं को 'पाणिदल-भोई' कहा है। उन्होंने आर्य जिननन्दि, सर्वगुप्त गणि और आर्य मित्रनन्दि के पादमूल में रहकर सम्यक् रूप से श्रुत और उसके अर्थ को जानकर पूर्वाचार्यों के द्वारा रचित आराधना को आधार बनाकर 'भगवती आराधना' की रचना की (गाथा 2160-62)। शिवकोटि (शिवाय) का उल्लेख जिनसेन ने अपने आदिपुराण (1.49) में और श्रीचन्द्र ने अपने कथाकोश में किया है। श्रवणबेलगोल शिलालेख क्र. 105 (1398) में शिवकोटि को आचार्य समन्तभद्र का शिष्य बताया गया है। हस्तिमल्ल कृत नाटक 'विक्रान्त कौरव' ने भी इस तथ्य का समर्थन किया है। प्रभाचन्द्र के कथाकोश के अनुसार यह 'शिवकोटि' मूलतः वाराणसी का शैव राजा था। समन्तभद्र के भक्ति माहात्म्य से शिवलिंग को तीर्थंकर चंद्रप्रभ की मूर्ति के रूप में बदलता देखकर वह जैन बन गया था। उसने जैनागम का गहन अभ्यास किया और लोहाचार्य की 84 हजार प्राकृत गाथाओं में रचित आराधना को संक्षिप्त कर 2500 गाथाओं में मूलाराधना की रचना की। 'भगवती आराधना' में भले ही इस परम्परा का कोई उल्लेख न हो पर 'पूर्वाचार्य परम्परा' के माध्यम से वहाँ कदाचित् यही संकेत



किया गया है। रत्नमाला में शिवकोटि का उल्लेख हुआ है। जिनसेन द्वारा उल्लिखित होने से वे उनके पूर्ववर्ती तो सिद्ध होते ही हैं। आराधना निर्युक्ति की ओर भी यहाँ संकेत समझा जा सकता है। उत्तराध्ययन निर्युक्ति, पङ्णा, मूलाचार आदि ग्रंथों में भी 'भगवती आराधना' की गाथाएँ यथावत् उपलब्ध होती हैं। डॉ. उपाध्ये ने यह सब प्रमाणित करने के लिए कुछ और भी साक्ष्य प्रस्तुत किये हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'भगवती आराधना' उस समय की रचना है जब दिगम्बर-श्वेताम्बर के रूप में जैनसंघ का विभाजन नहीं हुआ था। 'विजहना' सल्लेखना का ही रूप है। धन्न और शालिभद्र के कथानक यह स्पष्ट संकेत देते हैं कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी सल्लेखना प्रचलित थी। भवन्ती सुकुमाल, चाणक्य, चिलादपुत्र आदि कथानक भी यही पुष्ट करते हैं। वहाँ इस विषय पर अच्छा साहित्य भी मिलता है। 'भगवती आराधना' के टीकाकार अपराजित सूरि का समय चूर्णिसूत्रों और धवला टीका से भी मेल खा जाता है। इससे ऐसा लगता है कि शिवार्य का समय आचार्य कुन्दकुन्द के आस-पास होना चाहिए। इन्हें हम द्वितीय-तृतीय शताब्दी में स्थापित कर सकते हैं।

'पुष्पाङ्गरियणिबद्धा उपजीवित्ता' तथा 'ससत्तीए' (गाथा 2160) शब्दों का प्रयोग कर आचार्य शिवार्य ने यह सूचित किया है कि उन्होंने 'भगवती आराधना' को किसी पूर्व कृति के आधार पर यथाशक्ति रचा है। संभव है, लोहाचार्य विरचित 84,000 श्लोकप्रमाणवाली 'आराधना' उनके समक्ष रही हो और उसी को उन्होंने संक्षिप्त रूप दिया हो। आज यह ग्रंथ अनुपलब्ध है। 'भगवती आराधना' के विषय को देखने से भी ग्रंथ की प्राचीनता अभिव्यक्त होती है। मरणोत्तर विधि इसी प्राचीनता को द्योतित करती है। बौद्धधर्म की महायान परम्परा में भी इसी विधि को अपनाया जाता था।

'आराधना' जीवनरूपी रंगशाला का उपसंहार है। यह वैराग्यमूलक ऐसा महाद्वार है जिसमें प्रवेश कर आराधक अपने जीवन को परम शान्ति की खोज में समर्पित कर देता है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में इसे समानरूप से महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। दिगम्बर सम्प्रदाय में मूलाचार आचारपरक ग्रंथ है। उसमें समाधिमरण पर विशेष व्याख्यान नहीं मिलता पर 'भगवती आराधना' में मुनि-आचार और मरणसमाधि दोनों का कथन उपलब्ध होता है। दिगम्बर परम्परा में भगवती आराधना के अतिरिक्त अन्य कोई विशेष मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं।

जो भी हैं, प्रायः टीका रूप में हैं। इनमें अपराजितसूरि कृत 'विजयोदया' और आशाधर कृत 'मूलाराधना दर्पण' विशेष उल्लेखनीय हैं।

### आराधना विषयक श्वेताम्बर साहित्य

श्वेताम्बर परम्परा में 'आराधना' पर अपेक्षाकृत अधिक साहित्य मिलता है। आगमिक ग्रन्थों में आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कन्ध, वृहत्कल्प, जीत कल्प, व्यवहार, निशीथ आदि ग्रन्थों में मुनि आचार के साथ ही समाधिमरण की साधना का वर्णन हुआ है। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि में भी उस पर चिन्तन किया गया है। उत्तराध्ययन के पाँचवें अध्ययन में इसकी विस्तृत चर्चा है।

प्रकीर्णक ग्रन्थों में विशेषरूप से इस पर विवेचन किया गया है। मुनि पुण्यविजयजी द्वारा संपादित 'पण्णयसुत्ताइं' में संकलित 33 प्रकीर्णकों में से 22 प्रकीर्णक समाधिमरण से संबंधित हैं - 1. चन्द्रा वेध्यक, 2. मरणसमाधि, 3. आतुर प्रत्याख्यान, 4. महाप्रत्याख्यान, 5. संस्तारक, 6. चतुःशरण, 7. आतुरप्रत्याख्यान, 8. भक्तपरिज्ञा, 9. वीरभद्राचार्य कृत आतुरप्रत्याख्यान, 10. आराधनापताका, 11. वीरभद्राचार्य कृत आराधनापताका, 12. पर्यन्ताराधना, 13. आराधना पंचकम्, 14. आतुरप्रत्याख्यान, 15. आराधना प्रकरण, 16. जिनशेखर श्रावक प्रति सुलस श्रावक आराधिक आराधना, 17. नन्दन मुनि आराधित आराधना, 18. आराधना कुलकम्, 19. मिथ्यादुष्कृतकुलकम्, 20. आलोचा कुलकम्, और 21. आत्मविशोधि कुलकम्।

अन्य प्रकीर्णक ग्रन्थ हैं - 1. वीरभद्र कृत आराधनापताका (1000 गाथाएँ), 2. आराधना कुलक, 3. आलोचनाकुलक, 4. मिथ्यादुष्कृत, 5. आत्मविशोधि, 6. चतुःशरण, 7. आतुरप्रत्याख्यान, 8. आराधना, 9. संस्तार का महाप्रत्याख्यान, 10. भक्तपरिज्ञा, 11. आराधनासार, 12. आराधनापंचक, 13. मरणविभक्ति, 14. आराधनापताका (886 गाथाएँ)।

प्रकीर्णक साहित्य से प्रभावित एक 'संवेगरंगशाला' नामक ग्रन्थ भी उपलब्ध होता है जिसके लेखक हैं - खरतरगच्छीय जिनचन्द्र सूरि। उन्होंने वि. सं. 1125 में छत्रावली (छात्राल) नगर गुजरात में इसकी रचना की। वे चैत्यवासी परम्परा से भिन्न संविन या सुविहित परम्परा में दीक्षित थे। इस ग्रन्थ में 10,054 गाथाएँ हैं। इस ग्रन्थ का प्रकाशन वि.सं. 2025 में बंबई से हुआ था। इसमें गौतम स्वामी के माध्यम से महासेन राजा का वैराग्यवर्धक चरित्र वर्णित है। इसमें आराधना

के चार मूलद्वारों का वर्णन है - 1. परिकर्मविधि, 2. परगणसंक्रमण, 3. ममत्व-उच्छेद और 4. समाधि। इन चारों द्वारों में अनुक्रम से 15, 10, 9 और 9 प्रतिद्वार हैं। यहाँ हम संवेगरत्नशाला पर समीक्षात्मक दृष्टि से 'भगवती आराधना' के परिप्रेक्ष्य में विशेष विचार करेंगे।

'भगवती आराधना' में सल्लेखना के लिए 'आराधना' शब्द का प्रयोग हुआ है। आराधना का तात्पर्य है - जिनभक्ति, रत्नत्रयपालन, तप, वीतरागता, इन्द्रियसंयमन आदि सद्गुणों में व्यस्त रहना। इन व्रतों के साथ हुए मरण को 'आराधना मरण' कहा जाता है। स्तुति के रूप में इसे 'भगवती आराधना' कहते हैं। भगवती सूत्र में आराधना तीन प्रकार की मिलती है - ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना और चारित्राराधना। साधक आराधना की पूजा भी करता है इसलिए लोहाचार्य द्वारा 84,000 गाथाओं में लिखी आराधना को शिवार्य ने मूलाराधना में 2500 गाथाओं में संक्षिप्त किया। बाद में और भी संक्षिप्तीकरण होता रहा। ऐसे लगभग 30 आराधना ग्रन्थ मिलते हैं। शिवार्य की 'भगवती आराधना' (2166-2170 गाथा), जिनचन्द्रसूरि की 'आराधना माला या संवेगरंगशाला' (10,054 गाथाएँ), आराधनापंचक उनमें मुख्य हैं। वीरभद्रसूरि की 'आराधना पताका' (990 गाथाएँ) मध्यम श्रेणी की है। शेष बहुत छोटी-छोटी हैं।

आराधना पर टीकाएँ लिखी जाना भी पुण्य का कार्य माना गया है (सवयधम्म संघ गाथा, 193)। 'भगवती आराधना' पर शायद इसीलिए लगभग आधा दर्जन टीकाएँ लिखी गई हैं। इनमें 'आराधना' तीन प्रकार की वर्णित हैं - 1. उत्कृष्ट जो केवलि द्वारा प्राप्त की जाती है, 2. मध्यम जो शुक्ल-पद्म लेश्या का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, और 3. जघन्य जो परिग्रही साधकों द्वारा की जाती है।

शिलालेखों में आराधनापूर्वक मरण के उल्लेख मिलते हैं। श्रवणबेलगोल में कटवप्र पर आचार्य प्रभाचन्द्र ने आराधना-समाधिमरण ग्रहण किया। बाद में 700 ऋषियों के 'आराधना मरण' का उल्लेख मिलता है। 7वीं सदी में कनकसेन और बलदेव तथा गुणदेव ने समाधिमरण लिया। पुष्पनन्दि, भारसिंह, शशिमति, नागियक्का, चैचेगौडी के भी उल्लेख आये हैं।

### भगवती आराधना का विषय परिचय

भगवती आराधना का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है - 'सल्लेखना' और 'मरण के प्रकार'। यद्यपि मरण के 17 भेद हैं पर ग्रन्थकार ने इसमें पाँच प्रकार के ही

मरणों का वर्णन किया है। 1. पण्डित-पण्डित मरण, 2. पण्डितमरण, 3. बाल पण्डितमरण, 4. बाल मरण, और 5. बालबाल मरण। पण्डित मरण के तीन भेद हैं - भक्तप्रतिज्ञा, प्रायोपगमन और इंगिनीमरण। इन मरण प्रकारों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

डॉ. सेट्टर की दो महत्वपूर्ण पुस्तकें कर्णाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़ से प्रकाशित हुई हैं - 1. *Inviting Death* (1986 A.D.), और 2. *Pursuing Death* (1990 A.D.)। पहली पुस्तक में उन्होंने श्रवणबेलगोल और उसमें हुई सल्लेखना का ऐतिहासिक दृष्टि से वर्णन किया है और दूसरी पुस्तक में उन्होंने 'भगवती आराधना' के आधार पर सल्लेखना या मरणसमाधि का विवेचन किया है। हमने अपने विवेचन में इन दोनों पुस्तकों का भी आधार लिया है। यहाँ हम भगवती आराधना का विषय-परिचय देते हुए उसका तुलनात्मक मूल्यांकन भी करते चलेंगे।

### सल्लेखना या आराधना का स्वरूप

जैन परम्परा में 'सल्लेखनापूर्वक मरण' को सर्वोत्तम मरण माना गया है और भगवती आराधना में 'सल्लेखना' के लिए 'आराधना' शब्द का प्रयोग हुआ है। आराधना की एक लम्बी प्रक्रिया है। इसे हम एक आध्यात्मिक साधना कह सकते हैं जिसका उद्देश्य 'केवली' या 'सिद्ध अवस्था' प्राप्त करना रहा है। आचार्य शिवार्य ने आराधना का अर्थ दिया है - सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्त्व का उद्योतन, उद्यवन, निर्वहन, साधन और निस्तरण (गाथा 2)। इसमें सम्यक्त्व के विषय में शंका-दोष या संशय को दूर किया जाता है (उद्योतन), आत्मचिन्तन और आत्मदर्शन किया जाता है (उद्यवन)। इस प्रक्रिया में किसी भी प्रकार की आकुलता नहीं होना चाहिए (निर्वहन) और निराकुलनपूर्वक परीषहों को सहते हुए परिणामों को निर्मल बनाये रखना चाहिए (निस्तरण)। इस प्रक्रिया से साधक परमात्म-अवस्था के प्राप्त कर लेता है।

इस प्रक्रिया में साधक दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की सम्यक् आराधना के लिए शरीर की अशुचिता और अनित्यता पर चिन्तन करता है, आत्मा की परम विशुद्धता पर मन्थन करता है, आर्त-रौद्र ध्यान से मुक्त होकर धर्मध्यान और शुक्लध्यान की ओर चरण बढ़ाते हुए सिद्धत्व का अनुभव करता है। इस अनुभूति में सांसारिक पर पदार्थों से मन पीछे हट जाता है और स्वतत्त्व पर प्रतिष्ठित हो

जाता है। वह मन से भी अचेलक हो जाता है, और परिग्रह से सर्वथा मुक्त हो जाता है। सल्लेखना का यही उद्देश्य होता है।

इस प्रकार 'भगवती आराधना' 'संवेग रंगशाला' का आधारभूत ग्रन्थ रहा है। दोनों ग्रन्थों की अवधारणा में कोई विशेष अन्तर नहीं है, मात्र साम्प्रदायिक अभिनिवेश की सन्नद्धता में आचार्यों ने इस विषय को उपकृत किया है।

तुकाराम चाल

सदर

नागपुर-440001




---

\* यह लेख जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर से प्रकाशित संस्करण पर आधारित है।

## भगवती आराधना में वर्णित द्वादश भावनाओं का स्वरूप

- डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल



‘भगवती आराधना’ आचार्य शिवार्य/शिवकोटि की महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें मुनिचर्या के प्रायः सम्पूर्ण अंगों पर बृहद् प्रकाश डाला है। यह आचार ग्रन्थ है। आचार्य शिवकोटि ने भगवती आराधना की अंतिम प्रशस्ति-गाथाओं में अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख किया है। इसके अनुसार आर्य जिननन्दिगणी, आर्य सर्वगुप्तगणि और आर्यमित्रनन्दि के चरणों के निकट मूलसूत्रों और उनके अर्थ को अच्छी तरह समझकर पूर्वाचार्यों द्वारा निबद्ध हुई आराधनाओं के कथन का उपयोग करके पाणितल-भोजी (करतल पर भोजन करनेवाले) शिवार्य ने यह आराधना-ग्रन्थ अपनी शक्ति के अनुसार रचा है।

प्रशस्ति में वर्णित तीन गुरुओं की गुरु-परम्परा आदि का कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। ‘जैनधर्म के प्राचीन इतिहास’ (द्वितीय भाग) में पं. श्री परमानन्द शास्त्री ने भगवती आराधना और आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथों की गाथाओं का तुलनात्मक अध्ययन कर यह सिद्ध किया कि आचार्य शिवार्य आचार्य कुन्दकुन्द के बहुत बाद हुए हैं, किन्तु पूज्यपाद देवनन्दीजी के पूर्ववर्ती हैं। जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण के प्रारम्भ में शिवकोटि मुनीश्वर को नमस्कार किया है (1/49)।

डॉ. हीरालाल जैन 'भगवती आराधना' का रचनाकाल ईसा की द्वितीय-तृतीय शती मानते हैं।

भगवती आराधना (दिल्ली से प्रकाशित) में 2179 गाथाएँ और चालीस अधिकार हैं। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप-रूप चार आराधनाओं का कथन किया है। प्रकारान्तर से, इस ग्रन्थ में आराध्य (रत्नत्रय), आराधक (भव्य जीव), आराधना (रत्नत्रय की प्राप्ति के उपाय) और आराधना का फल (अभ्युदय और मोक्ष) का सम्यक् वर्णन किया है। स्वसमय-परसमय, आगम-सिद्धान्त, नीति, सदाचार, तत्कालीन प्रचलित परम्परा, भावना, समाधिमरण, मुनिचर्या आदि पर काव्यात्मकता के साथ हृदयग्राही वर्णन भगवती आराधना में उपलब्ध है। इसकी लोकप्रियता का आभास ग्रंथ की टीकाओं, विवृत्तियों और वचनिकाओं से सहज होता है। अपराजितसूरि की विजयोदयी टीका (सातवीं शताब्दी), पं. आशाधर की 'मूलाराधनादर्पण' टीका, प्रभाचन्द्रजी की 'आराधना पंजिका', शिवजित अरुण की 'भावार्थ दीपिका' नामक टीकाएँ एवं पं. सदासुखदासजी की 'भगवती आराधना वचनिका' (हिन्दी टीका) उपलब्ध हैं।

कतिपय भ्रांत धारणाओं के कारण सर्वश्री पं. नाथूराम प्रेमी, प्रो. हीरालाल जैन, डॉ. श्रीमती कुसुम पटोरिया, श्वेताम्बर मुनि श्री कल्याणविजय, डॉ. सागरमल जैन ने भगवती आराधना और उसकी विजयोदयी टीका को यापनीय मत का ग्रंथ सिद्ध किया है। प्रो. डॉ. रतनचन्द्र जैन ने अपनी कालजयी कृति 'जैन परम्परा और यापनीय संघ (तीन खण्ड)' में समस्त भ्रांतियों और तथ्यों की सूक्ष्म विवेचना कर भगवती आराधना और उसकी टीकाओं को दिगम्बर परम्परा का सिद्ध कर दिगम्बर जैन साहित्य का अपूर्व उपकार किया है।

### बारह भावना

आचार्य शिवकोटि ने (भगवती आराधना में) धर्मध्यान के चार भेद अर्थात् आज्ञाविचय, अपायविचय, विपायविचय और संस्थानविचय में से संस्थानविचय धर्मध्यान के अंतर्गत 'द्वादश भावनाओं' के चिन्तवन का निर्देश दिया है। आपने ध्यान अधिकार में गाथा क्र. 1724 से 1881 तक 157 गाथाओं में द्वादश भावनाओं का सूक्ष्म और हृदयग्राही वर्णन किया है। ये भावनाएँ संसार-दुःख से भयभीत साधक को वैराग्य की ओर प्रेरित करती हैं। वैराग्य भाव से भावित साधक संसार, शरीर और भोगों से निवृत्त होकर स्वभावरूप दर्शन-ज्ञान-चारित्र में प्रवृत्त होने

की पात्रता ग्रहण करता है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान और तत्त्वअभ्यास के साथ-साथ वैराग्य भावनाओं को भाना साधक का प्राथमिक कर्तव्य है, अन्यथा निश्चयाभासी होने की स्थिति प्रकट हो जाती है। निश्चयाभास की प्रबलता से अशुभ में प्रवृत्ति होने पर कुगति में गमन होता है। परिणामों के अनुसार फल होता है। अतः सुफल हेतु द्वादश भावनाओं का चिन्तन करना साधक को इष्ट है।

**अध्रुवमसरणमेगत्तमण्ण-संसार-लोयमसुइत्तं।**

**आसवसंवर-णिज्जर-धम्मं बोधिं च चिंतिज्ज॥1724॥**

अर्थ - 1. अध्रुव-अनित्य, 2. अशरण, 3. एकत्व, 4. अन्यत्व, 5. संसार, 6. लोक, 7. अशुचित्व, 8. आस्रव, 9. संवर, 10. निर्जरा, 11. धर्म और 12. बोधि, ये द्वादश भावना बारम्बार चिन्तन करें।

**भावार्थ** - ये द्वादश भावना वैराग्य की माता है। तीर्थंकर देवनिकरि चिंतन करी हुई समस्त जीवन के हित करनेवाली, दुखित जीवनि कूं शरणभूत, आनंद करनेवाली, परमार्थ मार्ग कूं दिखावनेवाली, तत्त्वनि का निश्चय करावनेवाली, सम्यक्त्व उपार्जन करावनेवाली, अशुभध्यान कूं नष्ट करनेवाली, कल्याण के अर्थीनि कूं नित्य ही चिंतन करना श्रेष्ठ है।

धर्म के साधनों में अरहंतादिक के स्तवन, भक्ति आदि के साथ द्वादश भावनाओं का निरंतर चिंतन करना चाहिए।

### 1. अध्रुव-अनित्य भावना

देव, मनुष्य पर्याय फेन के झाग-जैसी क्षणमात्र में नष्ट हो जाती है। ऋद्धि-सम्पदा आदि स्वप्न-जैसी है। इन्द्रियजनित सुख बिजलीवत चंचल हैं। स्थान, गृह, विषय-भोग आदि का संकल्प मत करो। सर्व इन्द्र-चक्रवर्तीपना विनाशीक जानकर ज्ञान-दर्शन स्वरूप में आपा धारण करो। मित्र, स्वामी, स्त्री, पुत्रादिक परिवार आदि के सम्बन्ध अनित्य हैं। वृक्ष की छाया को प्राप्त समूह है जो अपने-अपने मार्ग में चले जाते हैं। सूर्यास्त के समय अनेक पक्षी एक वृक्ष पर आ मिलते हैं और प्रातःकाल बिछुड़ जाते हैं, ऐसा ही कुटुम्बीजनों का संयोग है जो अनेक गतियों से आये हैं और त्रस-स्थावरादि अनेक योनिस्थान में चले जाएँगे। ऐश्वर्य, आज्ञा, धन तथा निरोगपना नष्ट हो जाता है। जीव की इन्द्रियों की सामग्री संध्याकाल की लालिमा समान अनित्य है। मनुष्यों का यौवन स्थिर नहीं है। नदी के जल-जैसे गया हुआ यौवन वापिस नहीं आता। जीव-लोक में आयु निरन्तर क्षीण होती है, बुढ़ापे



में वृद्धि होती है और जलरेखा-जैसे पुरुष का रूप नष्ट हो जाता है। जीवों का तेज और बुद्धि इन्द्रधनुष और बिजली-जैसी प्रकट होकर नष्ट हो जाती है। जीव का बल-वीर्य भी जल की लहर-जैसा अस्थिर है। गृह, शैय्या, आसन, भाँड, आभरण आदि ओस के समान अस्थिर हैं, लोक में यशस्कीर्ति संध्या की लाली के समान विनाशीक है। मरण के भय से व्याप्त और कर्म के वश में पीड़ित संसारी प्राणी इस जगत को शरद ऋतु के मेघ-जैसा अनित्य कैसे नहीं जानेगा? अवश्य जानेगा। अतः इस अनित्य संसार में मनुष्य पर्याय प्राप्त कर दोनों लोक में कल्याणकारी उत्तम कार्य करो और धन-संपत्ति को पर के उपकार में लगाओ। यह लक्ष्मी किसी के पास नहीं रही, पूर्व जन्म के पुण्य से यह प्राप्त हुई है, उसमें अहंकार कर पाप-प्रवृत्ति करने पर दुर्गति होती है। अतः उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों को दान देकर तथा सप्त क्षेत्र में उपयोग कर उसे सफल करो। यौवन-रूप पाकर भी शीलव्रत दृढ़तापूर्वक पालो। बल पाकर क्षमा ग्रहण करो। ऐश्वर्य पाकर मदरहित विनयवान बनो। इस प्रकार बाह्य संयोग पाकर वैराग्य भावना भाना चाहिए। यही अनित्य भावना है जिसका वर्णन तेरह गाथाओं (1725-1737) में किया है।

## 2. अशरण भावना

इस संसार में कोई भी शरण नहीं है। अशुभ कर्म की उदीरणा होने पर बुद्धि नष्ट हो जाती है। कर्म का उदय आने पर कोई उपाय काम नहीं आता, अमृत भी वैरी-जैसा हो जाता है, बुद्धि-विपर्यय होकर स्वयं ही स्वयं का घात करने लगता है। अशुभ कर्म का उपशम होने पर मूर्ख के प्रबल बुद्धि प्रगट हो जाती है, सुखी हो जाता है, शत्रु मित्र हो जाते हैं, शस्त्र-तृणवत और विष-अमृतवत हो जाता है।

पाप का उदय होने पर धन नष्ट हो जाता है। पुण्य का उदय होने पर बिना प्रयत्न के दूर-देश से धन मिल जाता है। लाभान्तराय का क्षयोपशम होने पर अचिन्त्य धन प्राप्त हो जाता है। लाभांतराय और तीव्र असाताकर्म के उदय में संरक्षित धन भी नष्ट हो जाता है। पापोदय में भली प्रवृत्ति करता हुआ व्यक्ति भी दोषी हो जाता है और पुण्योदय में दुष्ट प्रवृत्ति करता हुआ भी गुणवान हो जाता है। अपयश-कीर्ति के उदय से सदप्रवृत्ति अपवादित हो जाती है और यशस्कीर्ति के उदय से दुष्टता करता व्यक्ति गुण-विख्यात हो जाता है। पुण्योदय से अगुणवंत की प्रसिद्धि हो जाती है और पापोदय से गुणवान अपयश को प्राप्त होता है।

पाप के उदय में जन्म, जरा, मरण, रोग, चिंता आदि से पाताल में भी कर्म का फल भोगना होता है। कोई भी शरण नहीं होता। उदीरणा को प्राप्त हुआ कर्म

भोगना ही होता है। गुफा, वन, पर्वत, समुद्र आदि कहीं भी जाओ, कर्म पीछा नहीं छोड़ता। भूमि, जल, आकाश आदि में कहीं भी गमन करो, कर्म कहीं नहीं छोड़ता। इस लोक में ऐसे प्रदेश बहुत हैं जहाँ सूर्य-चन्द्रमा की किरण नहीं जा सकती, किन्तु ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ कर्म का प्रवेश निषिद्ध हो। कर्मोदय के काल में विद्या, मंत्र, बल, वीर्य, मित्रादिक कोई भी शरणभूत नहीं हैं। जैसे सूर्योदय रोकने में कोई समर्थ नहीं उसी प्रकार उदीरणा को प्राप्त कर्म को कोई रोकनेवाला नहीं। कर्म के सहकारी कारण बाह्य निमित्त मिलने पर कर्मोदय को रोकना देवादिक की क्षमता के बाहर है। रोगादिक का इलाज जगत में दिखायी देता है, परन्तु कर्म के उदय को रोकनेवाला मंत्र-तंत्र, औषधि जगत में नहीं है।

असातावेदनीय कर्म की उदीरणा में रोग का इलाज नहीं होता। असाता-वेदनीय कर्म का उपशम होने पर औषधादिक से रोग का इलाज होता है। अशुभ कर्म के उदय होने पर विद्याधर, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती तथा देवेन्द्र आदि कोई शरणभूत नहीं हैं। अशुभ कर्म का उपशम होने तथा पुण्य कर्म के उदय होने पर समस्त रक्षक हो जाते हैं। संसार में समुद्र और पृथ्वी को पार करनेवाले समर्थ हैं, किन्तु उदीरणा/कर्म के उदय का उल्लंघन करने में कोई समर्थ नहीं है। सिंह के मुख में हरिण जिस प्रकार अशरण है इसी प्रकार कर्मोदय से ग्रस्त जीव अशरण है। उदीरणाग्रस्त जीव को दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप ही रक्षक है-शरणभूत है। जब इन्द्रादिक रक्षा नहीं कर सकते, तब अधम व्यंतरादिक देव, ग्रह, यक्ष-भूत-योगिनी, क्षेत्रपाल, चंडी-भवानी आदि असमर्थ देव जीव की रक्षा करने में कैसे समर्थ होंगे! जो उनको शरणभूत मानता है वह दृढ़ मिथ्यात्व-मोहित जीव है। मनुष्य की रक्षा करने यदि कुलदेवी, मंत्र, तंत्र, क्षेत्रपालादिक समर्थ हों तो मनुष्य अक्षय हो जायेगा। आयु का क्षय होने पर मरण होता ही है। आयु देने में देव-दानव कोई समर्थ नहीं है। किसी को सहकारी मानना मिथ्यादर्शन का प्रभाव है। देव यदि मनुष्यों की रक्षा करने में समर्थ हैं तो वे देवलोक क्यों छोड़ते हैं? अतः परम श्रद्धान कर ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की परम शरण ग्रहण करो। उत्तमक्षमादि धर्म रूप परिणमन कराता हुआ आत्मा स्वयं रक्षक होता है। चार कषायरूप परिणमन से व्यक्ति स्वयं गिरता है। अपनी रक्षा अपने से होती है। इस प्रकार अठारह गाथाओं (1738-1755) में अशरण भावना का हृदयग्राही वर्णन किया गया है।

### 3. एकत्व भावना

जीव स्वयं पाप-पुण्य करता है और स्वयं ही उसका फल भोगता है। कोई दूसरा उसमें सहायक नहीं होता। इसी भावना को एकत्व भावना कहते हैं।

जीव कुटुम्ब और शरीर के पालन हेतु जो पाप कर्म करता है, बहु आरम्भ-परिग्रह में लीन होकर पाप बाँधता है उसका फल नरकादिक कुगति में स्वयं एकाकी महादुःख भोगता है। कर्म के उदय से रोगादिक की वेदना होती है उसे मित्र कुटुम्बादिक प्रत्यक्ष देखते हैं, किन्तु किंचित् भी उसे दूर नहीं कर सकते। परलोक में नरकादिक के फल को एकाकी भोगता है। भोग भोगने में स्त्री, पुत्र-मित्रादि सहयोगी होते हैं, किन्तु आयु के अंत में मरण के समय कोई सहायी नहीं होता और अशुभ कर्म के फल भोगने में कोई सहायी नहीं होता। परलोक में गमन करनेवाले जीव के स्त्री-पुत्र-मित्र, धन, देहादिक कोई भी अपना नहीं होता है, यद्यपि प्रत्यक्ष में वे चाहते हैं, फिर भी वे निरर्थक हैं। देह के सम्बन्धी इस देह के नाश होते ही समस्त सम्बन्धों से छूट जाते हैं। परलोक में कोई भी सम्बन्ध करने के लिए नहीं जावेंगे। महल, मकान, राज्य, सम्पदा आदि का सम्बन्ध इस लोक में ही है। जीव पुण्य-पाप लिये परलोक में एकाकी गमन करेगा। इसलिए सम्बन्धियों के प्रति ममता कर परलोक बिगाड़ना महान अनर्थ है।

इस जीव ने सम्यक्त्व, चारित्र, श्रुतज्ञान का अभ्यास कर जो धर्म किया है, वही परलोक में जीव के गुणकारक सहायी होता है। धर्म बिना कोई सहायी-हितु (उपकारी) नहीं। धर्म की सहायता से ही स्वर्ग के महर्द्धिक देव, अहमिन्द्र, इन्द्र, तीर्थंकर, चक्री, सुन्दर कुल, जाति, रूप, बल, विद्या, ऐश्वर्य आदि मिलते हैं। जिस प्रकार बंदीगृह में बंधन में बँधे पुरुष को बंधन में राग नहीं है, उसी प्रकार ज्ञानवन्त पुरुष के देह में राग नहीं है। और संसार में अनंत बार मरण करनेवाले तथा महाभय के कारण, विषसमान धन-सम्पदा आदि में ज्ञानी जीव के राग नहीं होता। जीव अपने भावों से उत्पन्न कर्मों का चतुर्गति-रूप फल एकाकी ही भोगता है। संयोग-वियोग, उत्पत्ति-मरण, सुख-दुःख आदि में इस जीव का कोई मित्र नहीं है। अपना किया आप स्वयं अकेला भोगता है।

इसलिए हे आत्मन, अपना एकाकीपन देखो, अनुभव करो। मोह में चेतन-अचेतन पदार्थों में अपनी एकता मानी है, इस भूल से आत्मा में दृढ़ कर्म-बंध होता है। जिस काल भ्रमरहित हो एकाकीपन का अनुभव करेगा तब कर्म-बंध का अभाव

हो शुद्ध स्वरूप प्राप्त होगा। इस जीव का रक्षक-सहायी केवल धर्म ही है। सात गाथाओं (1756-1762) में एकत्व भावना भायी है।

#### 4. अन्यत्व भावना

संसार के सर्व जीव अन्य-अन्य हैं, कोई किसी का नहीं है, ऐसी भावना अन्यत्व भावना में होती है। अज्ञानी जीव अपने-से अन्य स्त्री, पुत्र, कुटुम्बादिक के सम्बन्ध में दुःख देख सोच करता है, किन्तु अनादि काल से असातावेदनीय आदि कर्म के उदय से जो स्वयं चतुर्गति के दुःख भोग रहा है, उसके बारे में क्या करना है, ऐसा सोच नहीं करता। पंच परिवर्तनरूप अनन्त संसार में कर्मोदय से परिभ्रमण करते कोई जीव किसी का स्वजन नहीं है। मोह एवं मिथ्यात्व भाव के कारण स्त्री, पुत्र, कुटुम्बादिक में लोक आसक्त हो रहा है। किन्तु कोई किसी का नहीं, समस्त जीव अन्य-अन्य हैं, समस्त सम्बन्ध कर्मजनित हैं, विषय-कषाय के पुष्ट कारक विनाशीक हैं। अनन्त काल में समस्त जीव अनन्त बार स्वजन भये, अनन्त बार स्वजन होएँगे। अतः किस-किस में स्वजनपना कर संकल्प करें? जो वर्तमान में मित्र स्वजन दिखते हैं वे पूर्व में घात करनेवाले शत्रु थे और जो वर्तमान में शत्रु जैसे दिखते हैं वे पूर्व में हितकारी-मित्र हुए थे और आगे भी ऐसे ही होंगे। अतः इनमें राग-द्वेष रूप बुद्धि नहीं करो। समस्त अन्य-अन्य हैं।

जैसे रात्रि में वृक्ष में पक्षियों का संयोग होकर प्रातः देशांतर गमन हो जाता है उसी प्रकार लोक में जन्म-जन्म में अनेक प्राणियों का संयोग होता है और आयु पूर्ण होने पर एक शरीर को छोड़ अन्य शरीर धारण कर नये-नये स्वजन ग्रहण करता है। जैसे एक आश्रम में अनेक ग्रामों के पथिक विश्राम करते हैं वैसे ही अनेक योनियों के जीव एक कुल में आकर मिलते हैं और आयु पूर्ण होने पर अनेक गतियों में चले जाते हैं। लोक में भिन्न-भिन्न प्रकृति के व्यक्ति हैं उनके स्वभाव भी नाना रूप हैं। बिना स्वभाव मिले प्रीति नहीं होती। इससे कोई भी किसी का प्रिय नहीं होता। समस्त जीवों के प्रयोजन-प्रति संबंध हैं, कार्य के निमित्त ही का सम्बन्ध है। कार्य नहीं तो सम्बन्ध नहीं। बालू के ढेर-समान सम्बन्ध बिखर जाते हैं। सभी अन्य-अन्य हैं। किसी का किसी से सम्बन्ध नहीं है - यह निश्चय कर पर की प्रीति त्यागकर आत्महित में प्रीति करना उचित है। लोक में पुत्र को आधार मानकर स्वार्थवश पुत्र का पोषण करता है, माता का पोषण करता है। बहुत उपकार करने पर शत्रु भी मित्र हो जाते हैं और वांछित भोग में विघ्न करने या अपमान करने पर

वह क्षणमात्र में शत्रु हो जाता है। इसप्रकार, संसार में कोई किसी का शत्रु या मित्र नहीं होता, उपकार-अपकार की अपेक्षा मित्रपना या शत्रुपना होता है। कृतघ्न व्यक्ति निंद्य हुआ उपकारी का उपकार भी नहीं मानता। वस्तुत्व से कोई किसी का शत्रु-मित्र नहीं होता अतः किसी में राग-द्वेष नहीं करना।

जिसका हित/उपकार करे, वह उसका बान्धव है, और जिसका अहित करे, वह उसका शत्रु है, ऐसी जगत की प्रवृत्ति है। जो निज के मित्र-भाई-बांधव हैं, वे स्वर्ग-मोक्ष को प्राप्त करनेवाले धर्म में विघ्न पैदा करते हैं। हिंसादि पाँच पाप और असंयम कराते हैं। असंयम तीव्र दुःख देनेवाला और संसार में डुबोनेवाला है, अभक्ष्य-भक्षण, रात्रि-भोजन, कुशील-सेवन, बहु आरंभ-परिग्रह और लोभादि में प्रवृत्ति कराकर नरकादि में ले जाते हैं। इससे जो अपने हैं, वे शत्रु समान हैं। असंयम पैदा करनेवाले ऐसे पिता-पुत्र शत्रु-समान ही हैं। तथा जो सज्जन साधु पुरुष हैं वे असंयम का त्याग करा कर रत्नत्रय धर्म में उद्यम कराते हैं। अतः अनेक सुख के हेतुभूत ये वीतरागी साधु हैं। स्त्री-पुत्रादिक अनेक दुःख के कारणरूप शत्रु समान हैं अतः हे भव्य जीव! तुम समस्त से अन्यपना चिंतवन करो। यह आत्मा शरीरादिक से भिन्न, विलक्षण है, आत्मा चिदानंदमय भिन्न है। आत्मा उपयोग-स्वरूप अतीन्द्रिय ज्ञानदर्शनमय है। इसलिये हे ज्ञानीजन! जो जन्म-मरण में प्रत्यक्ष भिन्न अनुभव में आता है ऐसे शरीर में अन्यपणा कैसे नहीं देखते हो? यह मूर्तिक अचेतन है। इससे अपने शुद्ध ज्ञानानंदमय आत्मा को शरीर से अन्य मानना सत्यार्थ है। स्त्री-पुत्र, धन-धान्य, ऐश्वर्य, जाति-कुल, ग्राम-नगर आदि से भिन्न अपने स्वरूप का चिंतवन करो। संसार में पिता, पुत्र, माता, स्त्री अन्य-अन्य हैं। ऐसी अन्यत्व भावना करो। आचार्य ने चौदह गाथाओं (1763-1776) में अन्यत्व भावना को समझाया है।

### 5. संसार भावना

जिनेन्द्र भगवान के वचनों के अवलंबन से रहित और मिथ्यात्व से मोहित व्यक्ति संसाररूपी महावन में परिभ्रमण कर पुनः निगोद में चला जाता है। वहाँ से अनन्तकाल-पर्यन्त निकलना कठिन है। ज्ञानावरणादिक कर्मरूप भाँड-वस्तु, जिससे यह जीवरूप जहाज भरा है, वह चिरकाल से अनंतकाल-पर्यन्त भ्रमण करता है। यह संसार-समुद्र अति दुःखरूप जल से भरा है जिसमें अनंतकाय निगोद हैं, जिसमें द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव व भवरूप पंचपरावर्तन चारों गतियों में हो रहा है। इस संसार-समुद्र में जीव अनंतकाल-पर्यन्त भ्रमण करता है। एकेन्द्रियादिक जीव की पाँच योनियाँ हैं जिन्हें संसारी जीव ने अनन्त बार पाया है। एक देह त्यागकर रहट की घंटी जंत्र

जैसा दूसरी देह धारणकर अनन्तानंत काल से अनन्तानंत देह ग्रहण की है और त्यागी है। नट के समान अनेक संस्थान वर्ण रूप निरंतर ग्रहण करता-छोड़ता है। अनंत काल से 343 राजूप्रमाण लोक के समस्त प्रदेशों में अनन्त बार जन्म-मरण किया है। जीव ने अतीत काल में उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल के समस्त समय में अनन्त बार जन्म-मरण किया है। जन्म-मरणरहित कोई काल शेष नहीं रहा। जीव के मध्य के अष्ट प्रदेश के अतिरिक्त अन्य समस्त प्रदेशों में संकोच-विस्तार को प्राप्त होता है। जितने असंख्यातगुणे लोकाकाश के प्रदेश हैं उतने ही जीव के कर्मबन्ध होने योग्य कषाय और अनुभाग के परिणामों के स्थान हैं, वहाँ गिरगिट के रंग जैसे समय-समय पर परिणाम पलटने पर नवीन-नवीन अध्यवसाय रूप परिणाम होते हैं। संसार में सर्वत्र सर्व स्थानों में निरंतर मरण भय है, एक पक्षी दूसरे को मारते हैं, जलचर अन्य जलचर को मारते हैं और दुष्ट मनुष्य मनुष्यों-तिर्यचों को मारते हैं।

अज्ञानी जीव क्षुधा, तृषा, काम, कोपादि कर दुःखी हो महादुःख का कारण संसाररूप सर्प के मुख में प्रवेश करता है। मिथ्यात्व विषय-कषाय में प्रवेश करता है वह संसाररूप सर्प का मुख है, संसार में निगोद प्रधान है। निगोद में दर्शन-ज्ञान आदिक भाव प्राणों का लोप कर जड़रूप हुआ अनन्तानंत काल व्यतीत करता है। चतुर्गति के सर्वदुःख उस जीव ने अनन्त बार भोगे हैं। अनन्त बार दुःख पाकर किसी प्रकार इन्द्रियजनित सुख भी एक बार प्राप्त किया है। अनन्त पर्यायों में दुःख प्राप्त कर किसी एकबार सुख भी प्राप्त किया है, किन्तु सम्यग्दर्शन धारणकर गणधर, कल्पेन्द्र, तीर्थकरादि के पद कभी धारण नहीं किये। इस संसार में जीव अनेकबार वचन-मन-कर्ण आदि इन्द्रियों के संयोगरहित विकल हुआ है। रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग से रहित होकर चिरकाल से अनन्तकाल पर्यंत संसार-वन में भ्रमण कर रहा है। पृथ्वी आदि पाँच प्रकार के एकेन्द्रिय आदि में शक्तिहीन हुआ हजारों दुःख प्राप्तकर अनन्तकाल पर्यंत स्थावर काय में भ्रमण करता है। बहुत प्रकार के शरीर और मन से उत्पन्न दुःख में पाप से मलिन संसाररूपी नदी में अज्ञानी होकर प्रसन्न हुआ है। ज्ञान-नेत्र से रहित हो, चिरकाल तक यह संसार में भ्रमण करता है। यह जीव संसार-चक्र में चढ़कर परवश हो भ्रमण कर रहा है, जहाँ से निकलना बहुत कठिन है। संसार चक्र का स्वरूप कैसा है? विषयाभिलाषारूप दृढ़ आरा, नरकादि कुयोनियों की पूठी, सुख-दुःखरूप दृढ़ कीला, अज्ञानभाव रूप तुम्ब, कषायरूप दृढ़ पट्टिका के बन्ध, जन्मांतरों के सहस्र रूप विस्तीर्ण परिभ्रमण पथ और मोहरूप अत्यंत चंचल वेग है। इस प्रकार संसार चक्र में जीव घूम रहा है।

यह जीव औदारिक, वैक्रियक, तैजस और कार्माण शरीर के बोझ से भरा है। जिस कारण आत्मा का केवलज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य प्रकट नहीं हो पा रहा है। अंधे व्यक्ति के समान मोहान्धकार में कर्म से दुःखी जीव परिभ्रमण कर रहा है। दुःख के इलाज और सुख की अभिलाषा में जीव मोह में हिंसादिक दोष ही करता है। दुःख दूर करने में समर्थ महाव्रत और अणुव्रत आदि का निरादर करता हुआ हिंसा, असत्य, परस्त्रीसेवन, परधन का अपहरण, बहु-आरम्भ-परिग्रह, अभक्ष्य भक्षण, अन्याय आदि से नरकादिक में बहुत काल पर्यंत घोर दुःख भोगता है। मिथ्यात्व के उदय से दुःख के कारणों को सुख का कारण मानकर अंगीकार करता है। हिंसादि दोष से नवीन कर्मबंध होता है, जब वे उदय में आते हैं तब पुनः कर्मबंध होता है। इस प्रकार पुनः-पुनः नवीन-नवीन कर्मबंध उदय की अंतहीन क्रिया चलती है और जीव बहुत दुःखरूप भ्रमण करता रहता है। इस प्रकार अट्ठाईस गाथाओं (1777-1804) में संसारानुप्रेक्षा का वर्णन किया।

## 6. लोकानुप्रेक्षा

संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव का समस्त जीवों से अनेकबार संबंध प्राप्त हुआ है। माता ही पत्नी बनी और पत्नी माता बनी है। इस प्रकार सभी संबंध निरंतर पलटते हैं। एक ही पर्याय में धनदेव नाम के वणिक पुत्र की माता बसंततिलका उसकी पत्नी बन गयी। और एक ही पेट से जन्मी कमला नाम की बहिन पत्नी हो गयी। एक ही जन्म में ऐसा अपवाद हुआ तब अनेक जन्मों की कथा कौन कहे। पापकर्म के उदय आने पर राजा दास हो जाता है और दास राजा हो जाता है। इस संसार में समस्त स्थान/पद बदलते रहते हैं। यह संसार पाप-पुण्य का चरित्र है। कुलवान विदेह देश का स्वामी सुभौम अशुभ कर्म के उदय से विष्टा के गृह में कीड़ा उत्पन्न हुआ। शुभ वर्ण-गंध-रूप का धारक महान ऋद्धि का देव मरकर महामलिन दुर्गंधयुक्त गर्भ स्थान में प्रवेश करता है। धिक्कार है संसार का निवास। जो अपने अति निकट के हैं वे लोक व परलोक में शत्रु हो जाते हैं। अपनी माता ही इसलोक-परलोक में अपने पुत्र का मांस खा जाती है। इससे अधिक अनर्थ और क्या हो? पूर्व का दुःख देनेवाला बैरी इस भव में स्नेहसहित बंधु हो जाता है। जगत में निजपना और शत्रुपना क्षणमात्र में राग-द्वेष के कारण पलट जाता है। सुदृष्टि नाम पुरुष ने वक्र नाम के सेवक का विमला नाम की स्त्री के निमित्त वध किया, वह अपने कर्मोदय से अपनी स्त्री के गर्भ में उत्पन्न हुआ। जाति स्मरण से उसे यह

बात ज्ञात हुई। शास्त्रज्ञ-पण्डित भी अभिमान और पाप के वशीभूत मर कर श्वान या चांडाल हो जाता है।

संसारी जीव लाभांतराय कर्म के उदय से दरिद्री, लाभांतराय कर्म के क्षयोपशम से बहुत धनवान, अपयशकीर्ति के उदय से निन्दित और यशस्कीर्ति के उदय से जगत में विख्यात हो जाता है। असातावेदनीय कर्म के उदय से व्यसन, कष्ट और दुःख भोगता है; सातावेदनीय के उदय से देव-मनुष्य गति का सुख भोगता है। वेद के उदय से बारंबार त्रि-वेद को प्राप्त करता है। इस संसार में पुण्यहीन जीव अपराध नहीं करने पर भी अपराधी हो जाता है। और पुण्यवान प्रत्यक्ष में अपराधी होने पर भी जगत में निरपराधी जैसा रहता है। कृष्ण और शुक्ल पक्ष में चंदा की चाँदनी समान होते हुए कृष्ण पक्ष अप्रियकर और शुक्ल पक्ष प्रियकर होता है। वैसे ही जीव का आचरण, क्रिया अपकार-उपकार समान होने पर कोई द्वेष-योग्य अप्रिय होता है, कोई राग-योग्य प्रियकर होता है। पुण्य-पाप के उदय में कर्त्तव्य नहीं चलता, कर्म के उपशम में सफलता मिलती है। इस प्रकार जो जीव संसार, शरीर और भोग से विरक्त होकर लोक के स्वभाव में राग-द्वेष छोड़कर आत्मस्वभाव साधते हैं वे ज्ञानवान, सामर्थ्यवान धन्य हैं। मनुष्यलोक बिजलीवत चंचल, दुर्बल, व्याधियुक्त, दुःखरूप और मृत्यु से ताड़ित है, ऐसे लोक में ज्ञानी कैसे रह सकता है, कैसे रम सकता है? ऐसे लोक-स्वभाव का चिंतवन पंद्रह गाथाओं (1805-1819) में किया है।

### 7. अशुचि भावना

अर्थ-धनादिक और काम-पंचइन्द्रियों के विषय अशुभ हैं और जीव का अकल्याण करनेवाले हैं। देह में लालसा भी अशुभ है - अनन्तानन्त जन्म-मरण कराती है। केवल धर्म समस्त सुख का करनेवाला है और शुभ समस्त कल्याण का बीज है। इस लोक में काम, क्रोध, मद, मोह, भय, मायाचार, ईर्ष्या, बहुआरम्भ-परिग्रह, हिंसादि समस्त दोष और कामादिक मर्यादिक सर्व दोष धन से होते हैं। इस लोक सम्बन्धी दोष और परलोक सम्बन्धी दुर्गति धन से ही मिलती है। महाअनर्थ का मूल है। वैर, कलह, दुर्ध्यान, ममता धन से ही होती है। धन मुक्ति के दृढ़ अर्गल है। धन से मुक्ति बहुत दूर रहती है। मुक्ति वीतरागता से होती है। काम-क्रोध दुर्गन्धरूप देह-कुटी से उत्पन्न होता है, जगत में निंदा कराता है। परलोक में नरकादिक दुर्गति में ले जाता है। अनर्थकारी होने से काम-भोग अशुभरूप हैं। देह



महादुर्गन्धमय मांस-रुधिर-मल-मूत्ररूप है अतः ग्लानि करने योग्य है, अशुभ रूप है। मल के घड़े-जैसी अशुचि देह जलादिक से शुद्ध नहीं होती। देह से जलादि अपवित्र हो जाता है। केवल एक धर्म ही पवित्र है। धर्म के कारण देवों को नमस्कार किया जाता है। धर्म के प्रभाव से साधु के जल्लौषधादिक ऋद्धि प्रकट होती है। महान अशुचि मलिन देह को धारण कर जो तपश्चरणादिक से परम धर्म का सेवन करते हैं, उनको अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं। अतः अपावन देह को धर्म सेवन में लगाना ही अपना कल्याण करना है। इस प्रकार आठ गाथाओं (1820-1827) में अशुचि भावना का वर्णन किया।

### 8. आस्रव भावना

संसार-समुद्र में परिभ्रमण का कारण कर्मों का आस्रव है। इस संसार-समुद्र में बहुत दोषरूप लहरें उठती हैं। जैसे समुद्र के मध्य छिद्रयुक्त नाव में जल प्रवेश करता है, उसी प्रकार संसार-समुद्र में संवररहित पुरुष के कर्मरूप जल प्रवेश करता है। जैसे चिकनाईयुक्त शरीर में धूल चिपकती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व-असंयम कषाय-रूप परिणाम होने पर कर्म होने योग्य पुद्गल स्कन्ध आत्मा में एक क्षेत्रावगाह रूप होकर प्रवेश करते हैं, सो आस्रव है। यह 343 घन रज्जूप्रमाण समस्त लोक में दृश्य-अदृश्य ऐसे सूक्ष्म-बादर पुद्गल द्रव्य ऊपर-नीचे मध्य में ठसाठस भरे हैं। लोकाकाश में एक प्रदेश भी पुद्गल द्रव्य बिना नहीं है। इसमें कर्म होने योग्य अनन्तानंत पुद्गल परमाणु भरा है। जिस प्रकार जल में पड़ा तप्त लोहे का गोला चारों ओर से जल खींचता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वादि से संसारी आत्मा सर्व ओर से कर्म योग्य पुद्गल ग्रहण करता है जो कार्माण समय-प्रबद्ध ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मरूप परिणमित हो जाता है।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये आस्रव हैं। कर्मवर्गणा आने के द्वार रूप मिथ्यात्व 5, अविरति 12, कषाय 25, और योग 15, ये सत्तावन आस्रव हैं। अरहन्त भगवान द्वारा कहा गया सप्ततत्त्वादिक अर्थ में विमोह या अश्रद्धान सो मिथ्यात्व है। हिंसादिक पाँच पाप में प्रवृत्ति अविरमण है। इसी को असंयम कहते हैं। छहकाय के जीवों की अदया और पंचइन्द्रिय व मन का अवशपना, ये बारह अविरति हैं। पंचपाप के त्यागी के बारह अविरति का अभाव है और क्रोधादि चार कषाय राग-द्वेषमय हैं। अशुचि और अनुराग के अयोग्य देह में ज्ञाता मनुष्य को रागभाव कैसे आ सकता है? अज्ञानी अशुचि और असार देह में रंजायमान होता है।

रागभाव लुभाने में प्रबल होता है तथा दोष की प्रबलता से निकट का भाई-बान्धव क्षण मात्र में द्वेषी हो जाता है। इस प्रकार राग-द्वेष विपरीत मार्ग में प्रवर्तन कराते हैं।

गारव, इन्द्रिय, संज्ञा, मद, राग, द्वेष आदि पाप की प्रवृत्ति धिक्कार है जिनके कारण सम्यग्दृष्टि जीवों को भी दोष लग जाता है। गौरव तीन प्रकार का है - ऋद्धिगारव, रसगारव और सातगारव। ऋद्धि-सम्पदा का अभिमान ऋद्धिगारव है, षटरस भोजन का अभिमान रसगारव और सातावेदनीय के उदय का अभिमान सात-गारव है। इन्द्रिय-विषयों की लंपटता, भोजन, मैथुन और परिग्रह की अभिलाषा तथा रक्षा का भय, ये चार संज्ञाएँ हैं। आठ मद हैं। पंचेन्द्रिय के विषयों की अभिलाषा से सुख नहीं किन्तु कर्म-बन्ध होता है और निर्वाण का नाश होता है। यह धर्म को त्याग कर भोगों की अभिलाषा करने जैसा है। जैसे कोई पुण्यहीन अमृत त्याग कर विष पीता है, वैसे ही मूढ़जन मनुष्य भव में धर्म को छोड़ भोगों की इच्छा करता है। पापमय मन-वच-काय के योग से कर्म का आस्रव होता है। अनुकम्पा-जीवदया और शुभोगयोग ये पुण्य आने के द्वार हैं। जीवों के प्रति निर्दयता और अशुभोगयोग ये पापकर्म के द्वार हैं। शुभयोग से पुण्यास्रव और अशुभयोग से पापास्रव होता है। इस प्रकार चौदह गाथाओं (1828-1842) में आस्रव भावना का वर्णन किया।

## 9. संवर भावना

मिथ्यात्व और अव्रत द्वार से जो कर्म आते हैं उनका सम्बर क्रमशः सम्यक्त्व रूप दृढ़ कपाट और दृढ़ व्रत रूप आगल से मिथ्यात्व और हिंसादिक रोकने से होता है। कषायों के उपशम, जीव दया और इन्द्रिय दमन ऐसे आयुध हैं जिनसे कषाय चोरों से रक्षा की जाती है। जिस प्रकार उत्पथमार्गी घोड़ों को लगाम लगाकर नियंत्रित किया जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियों को विषयों से रोककर नियंत्रित करना चाहिए। जिस प्रकार विद्या-मंत्ररहित पुरुष आसीविष जाति के सर्प का निग्रह नहीं कर पाता। उसी प्रकार मन को एकाग्र नहीं करनेवाला चपल-चित्तधारक पुरुष इन्द्रियरूपी सर्प को वश में नहीं कर पाता। प्रमाद के विकथादि पंद्रह पाप द्वार हैं, यथा - विकथा 4, कषाय 4, इन्द्रिय 5, निद्रा 1 और स्नेह 1। अपने स्वरूप की निरंतर सावधानी रखने पर प्रमाद नहीं होता। जिस प्रकार खाई-कोट आदि से शत्रुओं की सेना से नगर की रक्षा होती है, उसी प्रकार मन-वच-काय की गुप्तिरूप खाई-कोट से संयमरूप नगर की कर्मरूपी वैरी की सेना से रक्षा होती है। प्रमादरहित पुरुष समितिरूप दृढ़ नाव में बैठकर छहकाय के जीवों की रक्षा करते हुए संसार-समुद्र से तिरते हैं। वस्तु के स्वरूप का सत्यार्थ रूप में स्मरण करनेवाले पुरुष के अन्तरंग में

कोई दोष प्रवेश कर तिरस्कार नहीं कर पाता। जो अपने और पर के भेदविज्ञान से रहित है और पर्याय में ही अंधा हो रहा है वह पुरुष दोषरूपी शत्रु को ग्रहण करता है। भेद-विज्ञान से दोष ग्रहण नहीं होते। सम्यक्त्व को धारण करनेवाला पुरुष परिषह की उदारणा को करता हुआ भेदविज्ञान का स्मरण रहता है। इन भावों की आराधना भगवान ने कही है। इस प्रकार दश गाथाओं (1843-1852) में संवर भावना का वर्णन किया।

### 10. निर्जरा भावना

ऐसे मुनिराज जिनके कर्मों का आस्रव संवर के कारण रुक गया है वे जैन-शास्त्रों में वर्णित नाना प्रकार के तप को धारण करते हैं। तपश्चरण बिना संवरमात्र से कर्म का छूटना सम्भव नहीं है।

पूर्व काल में बँधे कर्म का छूटना निर्जरा है। निर्जरा दो प्रकार की है - एक उदय काल में अपना रस लेकर झड़ना - सो सविपाक निर्जरा है और दूसरी उदय काल बिना तपश्चरणादिक के प्रभाव से, बिना रस दिये कर्मों का झड़ना, वह अविपाक निर्जरा है। समस्त ही उदय को प्राप्त हुए कर्मों की निर्जरा होती है। जो उदय में आकर समय-समय अपना रस देगा उस अनुसार समय-समय कर्म की निर्जरा होगी। और तप करके भी समस्त कर्म की निर्जरा होती है। फल दिये बिना किसी भी कर्म का छूटना संभव नहीं होता। अपना फल देकर खिरे वह सविपाक निर्जरा और जो तप करके तपाया गया कर्म अपना रस दिये बिना निर्जरी वह अविपाक निर्जरा है। जैसे अग्नि स्वयं प्रज्वलित होकर बहुत तृण की राशि को जलाती है, उसी प्रकार तपरूप अग्नि बहुत कर्मरूप तृण का विध्वंस करती है।

दर्शन-ज्ञान-चारित्रसहित तप करने से समस्त कर्म के रस का शोषण हो जाता है। कर्म की स्थिति घट जाती है और अनुभाग का अभाव हो जाता है। चिकनाईरहित कर्म-धूल के समान खिरकर बिखर जाते हैं। सम्यक तप के प्रभाव से कर्म का रस सूखकर कर्म-परमाणु आत्मा से झड़ जाते हैं। जिस प्रकार पाषाण में मिला स्वर्ग महान अग्नि में तपाये जाने पर शुद्ध होता है उसी प्रकार कर्म धातु में मिला हुआ जीव महान तपरूप अग्नि में तपाने पर शुद्ध होता है। संवरपूर्वक ताप ही मोक्ष का कारण है, संवर प्रयोजनवान है।

जिनेन्द्र भगवान ने परमागम में कहा है - संवररहित पुरुष को तप करने मात्र से मोक्ष नहीं होता। संवर सहित तपश्चरण करके ही मोक्ष होता है। जो संवररूप बख्तर पहनकर सम्यक्त्वरूप वाहन (रथ) पर चढ़ा है और श्रुतज्ञानरूप महान धनुष

को धारण किया है, ऐसा संयमीरूप योद्धा संयमरूप रणभूमि में कर्मरूप शत्रु को ध्यानादि तपोमय बाण से जीतकर अनुपमेय मोक्ष के राज्य की लक्ष्मी को प्राप्त करता है। इस प्रकार बारह गाथाओं (1853-1864) में निर्जरानुप्रेक्षा का वर्णन किया।

### 11. धर्म भावना

जो जीव मोक्षपर्यन्त कल्याण की परम्परा का पात्र है उसे ही सुखदायक उदार धर्म प्राप्त होता है। जो निर्वाण के अयोग्य है वह उत्तम धर्म को धारण नहीं कर सकता। जिसके कर्म की स्थिति घट जाए और पाप प्रकृतियों का रस मन्द रह जाता है, उसी का भाव धर्म धारण करने का होता है। धर्म से पूज्यता, विश्वसनीयता और यश मिलता है। धर्म मन को आनंदित करनेवाला और सुख देनेवाला है। मनुष्य और देवलोक के समस्त कल्याण और उसके बाद निर्वाण के श्रेष्ठ अविनाशी सुख धर्म से मिलते हैं।

जो जीव इस लोक और परलोक में ख्याति-प्रसिद्धि-लाभ, पूजादिक की आशा किये बिना निर्मल मन से दृढ़तापूर्वक जिनेन्द्रदेव के द्वारा कथित सत्यार्थ धर्म को धारण करते हैं, वे जगत में धन्य हैं। धर्मविहीन पुरुषों से जगत भरा है, महात्मा पुरुष बिरले हैं, वे धन्य हैं। विषय-रूप जंगल में इन्द्रियरूप दुष्ट घोड़ों पर चिरकाल से उन्मार्ग में विहार करते हुए वे पुरुष धन्य हैं जिन्होंने इन्द्रियरूप दुष्ट घोड़ों से उतरकर जिनेन्द्र भगवान द्वारा दिखाये निर्वाण के मार्ग का अनुसरण किया है।

जगत के मध्य राग-द्वेष की क्रीड़ा करते-करते स्वादहीन वीतराग धर्म में रति करना अत्यन्त दुर्लभ है। इन्द्रिय-विषयों में रमकर मलिन कषाययुक्त होकर और विषयों में सुखरूप आस्वाद कर, रमकर संसारी जीवों की विषय-रहित वीतराग धर्म में रति होना अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसे निर्दोष चारित्र को धारण करनेवाले मनुष्य का जन्म सफल है, जो संसार के दुःख को करनेवाले कर्म के आगमन को रोकने में समर्थ है। ऐसे मनुष्य में धर्मानुराग, कषायों की मन्दता, वैराग्यभाव, प्राणियों के प्रति दया और इन्द्रियों के दमन के भाव जैसे-जैसे बढ़ते हैं, वैसे-वैसे वह अतिशय कर निर्वाण के समीप हो जाता है।

धर्म-चक्र का स्वरूप -

सम्महंसण तुम्बं दुवालसंगारयं जिणिंदाणं।

वयणेमियं जगे जयइ धम्मचक्कं तवोधारं॥1873॥

अर्थ - जिसके सम्यग्दर्शन-रूप मध्य का तुम्ब (धुरा) है, आचारांगादिक द्वादश अंग जिसके आरा हैं, पंचमहाव्रतादिरूप जिसके नेमि हैं और तपरूप जिसकी धार है, ऐसा भगवान का धर्मचक्र कर्मरूप शत्रुओं को जीतकर परम विजय को प्राप्त करता है। इस प्रकार नौ गाथाओं (1865-1873) में धर्म भावना का वर्णन किया।

## 12. बोधिदुर्लभ भावना

कर्मों से लिप्त संसारी जीव को दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपरूप धर्म-बोधि, रत्नत्रय की पूर्णता और आराधना-सहित मरण होना दुर्लभ है। जिस प्रकार लवण समुद्र की पूर्व दिशा क्षेप्या जूडा और पश्चिम दिशा स्थित क्षेपीसमिला का संयोग होना दुर्लभ है उसी प्रकार संसार में जीव को मनुष्यपना दुर्लभ है। इस लोक में मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, प्रमाद आदि अशुभ भावों की बहुलता है, ये भाव निरंतर बहुत बार बहुत प्रवर्तते हैं। मनुष्यों को छोड़ अन्य जीवों की बहुलता है। चौरासी लाख योनियों और 199.5 लाख कुल कोड़ी हैं जिसमें मनुष्य योनि दुर्लभ है। जीव अनन्तानन्त काल निगोद में ही रहता है। कदाचित् मनुष्यपना मिले तो उत्तम देश में उत्पन्न होना दुर्लभ है। उत्तम देश, उत्तम कुल, रूप, आरोग्य, दीर्घायु, उज्ज्वल बुद्धि, धर्मश्रवण, धर्मग्रहण आदि मिलना उत्तरोत्तर अति दुर्लभ है। फिर उत्तम देश-कुल मिल जाए तब जिनशासन में बोधि और दीक्षा के सन्मुख बुद्धि होना दुर्लभ है। चारित्र मोह के उदय में रत्नत्रय मार्ग में प्रवर्तन करना दुर्लभ है। बोधिरूप रत्नत्रय प्राप्त होना दुर्लभ है। कदाचित् बोध को प्राप्त होकर प्रमाद से बोधि छूटने पर रत्नगिरि के शिखर से नीचे गिर जाता है। जिस प्रकार अंधकार के समय समुद्र में गिरा रत्न पाना दुर्लभ है उसी प्रकार संसार में भ्रमण करते हुए जीव को नष्ट हुआ बोधिरूप रत्नत्रय पुनः प्राप्त करना दुर्लभ है। जिनेन्द्र भगवान के ज्ञान में जो जीव धर्म-प्रबुद्ध होते दिखे वे धन्य हैं और जो जीव भावपूर्वक धर्म को प्राप्त करने हेतु उद्यम रूप होते हैं, वे धन्य हैं। इस प्रकार बोधिदुर्लभ भावना का आठ गाथाओं (1874-1881) में वर्णन किया।

द्वादश भावना का प्रकरण समेटते हुए आचार्य कहते हैं -

इय आलंबण मणुपेहाओ धम्मस्स होंति ज्झाणस्स।

ज्झायंतो ण वि णस्सदि ज्झाणे आलंबणेहिं मुणी॥1882॥

अर्थ - ये बारह भावना धर्म-ध्यान का आलंबन हैं। ध्यान करता हुआ मुनि इन भावनाओं का आलंबन करने से ध्यान से च्युत नहीं होता।

आचार्य शिवकोटि ने भगवती आराधना के भावना अधिकार में 5-5 उत्तम और कुत्सित भावनाओं का वर्णन किया है जो मूलतः पठनीय और दिशाबोधक हैं।

‘भाव्यते इति भावना, भावना ध्यानाभ्यास क्रियेत्यर्थः’ अर्थात् ध्यान के अभ्यास की क्रिया को भावना कहते हैं। धर्म-मार्ग में धर्म-साधन के रूप में जीवन के रूपांतरण, संयम की साधना और आत्मा की आराधना में वैराग्य एवं अन्य भावनाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक के आठवें अध्याय में उपदेश के रूप में घोषित किया है कि ‘निश्चयसहित व्यवहार के उपदेश में परिणामों की ही प्रधानता है, उसके उपदेश से तत्त्वज्ञान के अभ्यास द्वारा व वैराग्य भावना द्वारा परिणाम सुधारे वहाँ परिणामों के अनुसार बाह्य क्रिया भी सुधर जाती है (पृ. 279)। जिन भव्य महानुभावों को शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति की आंतरिक भावना हो उन्हें आचार्यदेव द्वारा वर्णित उक्त बारह भावनाओं का निरंतर चिंतन अवश्य करना चाहिए।

बी-369, ओ.पी.एम. कॉलोनी,  
अमलाई पेपर मिल  
जिला शहडोल (म.प्र.)




---

\* यह लेख प्रकाशचंद शीलचंद जैन जौहरी, 1266, चाँदनी चौक, दिल्ली-6 (वर्ष 1992) से प्रकाशित संस्करण पर आधारित है।

## अप्पपसंसं परिहरह

अप्पपसंसं परिहरह सदा मा होह जसविणासयरा।  
 अप्पाणं थोवंतो तणलहुहो होदि हु जणम्मि।361।  
 सो चेव हवदि दोसा जं सो थोएदि अप्पाणं।362।  
 संतो हि गुणा अकहिंतयस्स पुरिसस्स ण वि य णस्संति।  
 अकहिंतस्स वि जह गहवइणो जगविस्सुदो तेजो।363।  
 सो चेव होदि हु गुणो जं अप्पाणं ण थोएइ।366।  
 वायाए ज कहणं गुणाण तं णासणं हवे तेसिं।  
 होदि हु चरिदेण गुणाणकहणमुब्भासणं तेसिं।367।  
 वायाए अकहेता सुजणे विकहेतया य चरिदेहिं।  
 सगुणे पुरिसाण पुरिसा होंति उवरीव लोगम्मि।368।

– आचार्य शिवाय  
 भगवती आराधना

- अपनी प्रशंसा करना सदा के लिए छोड़ दो। अपने यश को नष्ट मत करो, क्योंकि समीचीन गुणों के कारण फैला हुआ यश भी अपनी प्रशंसा करने से नष्ट हो जाता है। जो अपनी प्रशंसा करता है वह लोगों में तृण के समान लघु होता है।361।
- जो अपनी प्रशंसा करता है यही उसका सबसे बड़ा दोष है।362।
- जो पुरुष स्वयं अपनी प्रशंसा नहीं करते उनके गुण नष्ट नहीं होते। ऐसा भी नहीं है कि अपने गुण न कहने से उनकी प्रख्याति नहीं होती! सूर्य अपने गुणों को स्वयं नहीं कहता फिर भी उसका प्रताप जगत में प्रसिद्ध है।363।
- जो अपनी प्रशंसा नहीं करता यही उसका सबसे बड़ा गुण है।366।
- वचन से गुणों को कहना उनका नाश करना है, आचरण से गुणों का कथन उनको प्रकट करना है, प्रकाशित करना है।367।
- जो वचन से न कहकर अपने आचरण से अपने गुणों को कहते हैं वे पुरुष लोक में सब पुरुषों से ऊपर होते हैं।368।

अनु. – पण्डित कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

## आचार्य शिवार्य-कृत 'भगवती आराधना' में समाधिमरण

- डॉ. प्रेमचन्द्र रांवका

आचार्य शिवार्य/शिवकोटि-कृत 'भगवती आराधना' जैन साहित्य का प्रथम कोटि का मुनि-आचारपरक प्राचीन ग्रन्थ है। यह सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन और सम्यक्चारित्र तथा तपरूप चार मुक्ति-प्रदातृ आराधनाओं पर अधिकारपूर्ण प्राचीन ग्रन्थ है। मुनि-धर्म से सम्बन्धित यह ग्रन्थ वट्टकेरि-कृत मूलाचार-सदृश प्रसिद्ध है।

कल्पसूत्र की 'स्थिविरावली' में शिवभूति नामक एक आचार्य का उल्लेख आया है तथा 'आवश्यक मूल भाष्य' में शिवभूति को वीर निर्वाण से 609 वर्ष बाद दिगम्बर संघ का संस्थापक कहा है।<sup>1</sup> कुन्दकुन्दाचार्य ने 'भाव पाहुड़' में शिवभूति के द्वारा भाव-विशुद्धिपूर्वक केवलज्ञान-प्राप्ति का उल्लेख किया है।

आचार्य जिनसेन ने हरिवंशपुराण में लोहार्य के पश्चाद्वर्ती आचार्यों में शिवगुप्ति मुनि का उल्लेख किया है, जिन्होंने अपने गुणों से अर्हदबलि पद को प्राप्त किया था। आदिपुराण में शिवकोटि मुनीश्वर और उनकी चतुष्टय मोक्षमार्ग की आराधनारूप हितकारी वाणी का उल्लेख किया है। आचार्य प्रभाचन्द्र के 'आराधना कथाकोश' व देवचन्द्र-कृत 'राजवली कथे' में शिवकोटि को स्वामी समन्तभद्र का शिष्य बताया है।<sup>2</sup> इन सब उल्लेखों से ज्ञात होता है कि आचार्य शिवार्य प्रथम शताब्दी ईसवी के हैं।



‘भगवती आराधना’ की गाथाओं में ‘दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप’, इन चार आराधनाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। इनका आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं में भी अनेकबार उल्लेख आया है। मुनियों की अनेक साधनाओं एवं वृत्तियों का वर्णन है, जिनका परवर्ती आचार्यों ने भी उल्लेख किया है। आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल, इन चार ध्यानों का विशद वर्णन मिलता है।

मूलाचार और भगवती आराधना में एकसमान गाथा के द्वारा पाँच महाव्रतों की रक्षा के लिए रात्रि-भोजन से निवृत्ति का निर्देश है -

**तेसिं चेष वदाणं रक्खट्टं रादिभोयणणियत्ति।**

मू.आ. 295, भ.आ. 1192

किन्तु उसे छठा महाव्रत नहीं कहा है। वैसे रात्रिभोजन-त्याग व्रत का अहिंसा व्रत में अन्तर्भाव हो जाता है। भगवती आराधना की विजयोदया टीका में दस स्थिति कल्पों का वर्णन करते हुए छठे व्रत नामक स्थिति कल्प के वर्णन में लिखा है कि उन पाँच व्रतों के पालने के लिए ‘रात्रिभोजन-विरमण’ नामक छठा व्रत कहा गया है तथा यह भी लिखा है कि आद्य और अन्तिम तीर्थकर के तीर्थ में पाँच व्रतों के साथ ‘रात्रिभोजन-विरमण’ छठा व्रत होता है।

भगवती आराधना की वैराग्यपरक गाथाएँ ‘तिलोयपण्णत्ति’ में तीर्थकरों के वैराग्य प्रकरण में मिलती हैं। गाथा सं. 2069 में एक गणी को परीषह सहनपूर्वक समाधिमरण करने का निर्देश है। भगवती आराधना के टीकाकार अपराजित सूरि ने ‘गणि’ का अर्थ यतिवृषभाचार्य किया है। अतः ‘भगवती आराधना’ तिलोयपण्णत्ति से भी प्राचीन है।

आचार्य शिवार्य या शिवकोटि के ग्रन्थ भगवती आराधना पर प्राकृत, संस्कृत और हिन्दी में उपलब्ध टीकाओं में विक्रम की 8वीं शताब्दी के विद्वान अपराजित सूरिकृत ‘विजयोदया टीका’, 11वीं शताब्दी के आचार्य अमितगतिकृत ‘संस्कृत-आराधना’ और 13वीं शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्य पण्डित आशाधर विरचित ‘मूलाराधना दर्पण’ विशेष प्रसिद्ध है।<sup>3</sup>

जैन धर्म-दर्शन में समाधिपूर्वक मरण की सर्वोपरि विशेषता है। मुनि हो या श्रावक, सबका लक्ष्य समाधिपूर्वक मरण की ओर रहता है। मुनि और उत्कृष्ट श्रावक अपनी नित्य भक्ति में समाधिमरणार्थ भावना भाते हैं। इस भक्ति भावना में मानवीय जीवन का इहलोक और परलोक अभ्युदय एवं निःश्रेयस निर्धारित है। आचार्य शिवार्य के भगवती आराधना ग्रंथ में समाधिपूर्वक मरण की पर्याप्त शिक्षा-

सामग्री व व्यवस्था प्राप्त होती है। मुनि-आचारपरक यह ग्रंथ मरण के भेदों-प्रभेदों से पूरित है।

‘समाधिमरण’ अपरनाम ‘सल्लेखना’ जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। जैनधर्म ने अध्यात्म के क्षेत्र में मृत्यु को ‘महोत्सव’ का स्वरूप प्रदान करने की जो प्रक्रिया प्रस्तुत की उसे ‘सल्लेखना’, ‘समाधिमरण’, ‘संन्यासमरण’, ‘वीरमरण’, ‘पण्डितमरण’, ‘संधारा’ आदि नामों से अभिहित किया गया है। कोई भी मनुष्य अपने सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा जीवन और मृत्यु को सार्थक बना सकता है। सम्यकपूर्वक काय और कषाय को कृश करना सल्लेखना है। आचार्य समन्तभद्र के अनुसार -

**उपसर्गे दुर्भिक्षेजरसिरुजायां च निःप्रतिकारे।**

**धर्माय तनु विमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥122॥ रत्न.क.**

- जिसके निवारण का कोई उपाय न हो ऐसे उपसर्ग, दुर्भिक्ष, वृद्धापना, असाध्यरोग की स्थिति में जीवन-धर्म की रक्षा के लिए शरीर का विधिपूर्वक त्याग करना समाधिमरण या सल्लेखना है।

दो हजार वर्ष पूर्व शौरसेनी प्राकृत भाषा में निबद्ध आचार्य शिवार्य कृत ‘भगवती आराधना’ नामक श्रमणाचार विषयक वृहद् ग्रन्थ मुख्यतः समाधिमरण विषय का सांगोपांग विवेचन करनेवाला ग्रन्थराज है।

मरणसमय में शरीर और रागादि दोषों को कृश करना समाधिमरण है। आचार्य शिवार्य मृत्यु के समय सल्लेखना धारण पर बल देते हुए कहते हैं -

**एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो।**

**ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तट्टु भवे पमोत्तूण॥688॥**

- अर्थात् जो भद्रजीव एक पर्याय में समाधिमरणपूर्वक मरण करता है, वह संसार में सात-आठ पर्याय से अधिक परिभ्रमण नहीं करता।

सल्लेखना और सल्लेखना-धारक का महत्त्व बताते हुए आचार्य शिवार्य लिखते हैं -

**सल्लेहणाए मूलं जो वच्चइ तिठ्व भत्तिराएण।**

**भोत्तूण य देवसुहं सो पावदि उत्तमं ठाणं॥687॥**

- सल्लेखनाधारक क्षपक का भक्तिपूर्वक दर्शन, वन्दन और वैयावृत्य आदि करनेवाला व्यक्ति भी देवगति के सुखों को भोगकर अन्त में उत्तमस्थान (निर्वाण) को पाता है।

आचार्य शिवार्य ने (गाथा 26 से 30 में) सत्रह प्रकार के मरणों का उल्लेख करते हुए उनमें विशिष्ट पाँच भेदों का वर्णन किया है - 1. पण्डित-पण्डित मरण, 2. पण्डित मरण, 3. बाल पण्डित मरण, 4. बाल मरण, 5. बाल-बाल मरण। इनमें प्रारम्भ के तीन प्रशस्त हैं और शेष दो अप्रशस्त।

पंडिदपंडिदमरणं पंडिदयं बालपंडिदं चेव।

बाल-मरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च॥26॥

पंडिदपंडिदमरणं च पंडिदं बाल पंडिदं चेव।

एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसंति॥27॥

- उक्त मरणों को स्पष्ट करते हुए बताया है कि 'पंडित-पंडितमरण' क्षीण कषाय 14वें गुणस्थानवर्ती अयोग केवलियों के होता है। उनका निर्वाणगमन पंडित-पंडितमरण है। 'पंडितमरण' चारित्र के धारक सकल संयमी साधुओं के होता है। 'बाल पंडितमरण' विरत देशव्रती श्रावक के होता है। 'बाल मरण' अविरत सम्यग्दृष्टि के होता है। 'बाल-बाल मरण' मिथ्यादृष्टि जीवों के होता है। पण्डित मरण के तीन भेद (जो चारित्रधारक साधुओं के होते हैं) बताये हैं - 1. भक्त प्रत्याख्यान, 2. इंगिनी और 3. प्रायोपगमन। चालीस अधिकारों में इनके उपभेदों सहित विस्तार से वर्णन किया है (गाथा 28, 29 व 30)। इस विषय पर इतना विस्तृत और व्यवस्थित विवेचन अन्यत्र नहीं है। वस्तुतः आचार्य शिवार्य-कृत 'भगवती आराधना' आत्म-साधना की अनुपम प्रक्रिया का अनुपम ग्रंथ है।

आचार्य नेमिचन्द्र कृत गोम्मटसार के कर्मकाण्ड (गाथा 60, 61) के अनुसार - जिस शरीर-त्याग में अन्नपान को धीरे-धीरे कम करते हुए छोड़ा जाता है उसे 'भक्त प्रत्याख्यान' कहा जाता है। इसका काल-प्रमाण न्यूनतम अन्तर्मुहूर्त और अधिकतम बारह वर्ष है। इसमें आराधक अपनी आत्मा के अतिरिक्त समस्त पर-वस्तुओं से राग-द्वेषादि छोड़ता है और अपने शरीर की परिचर्या स्वयं के साथ दूसरों से भी कराता है।

'इंगिनीमरण' में क्षपक अपने शरीर की परिचर्या स्वयं करता है, अन्य से नहीं कराता। जिस शरीर-त्याग में सल्लेखनाधारी अपनी परिचर्या न स्वयं करे और न दूसरों से करावे वह 'प्रायोपगमन मरण' कहलाता है। उनका संहनन प्रबल होता है।

आराधक जब सल्लेखना लेता है तो वह उसमें बड़े आदर, प्रेम और श्रद्धा के साथ संलग्न रहता है तथा उत्तरोत्तर पूर्ण सावधानी रखता हुआ आत्म-साधना में गतिशील रहता है। उसके इस महान पावन कार्य को सफल बनाने और उसे पवित्र पथ से विचलित न होने देने के लिए समाधिमरण करानेवाले अनुभवी मुनि (निर्यापकाचार्य) उसकी सल्लेखना में सम्पूर्ण शक्ति एवं आदर के साथ उसे सहायता पहुँचाते हैं और समाधिमरण में सुस्थिर करते हैं। वे सदैव उसे तत्त्वज्ञानपूर्ण मधुर उपदेश देते हुए शरीर और संसार की असारता एवं क्षणभंगुरता दिखलाते हैं, जिससे वह उनमें मोहित न हो जिन्हें वह हेय समझकर छोड़ चुका है। आचार्य शिवार्य ने भगवती आराधना में समाधिमरण करानेवाले इन निर्यापक मुनियों का प्रभावी वर्णन किया है -

पियधम्मा दढधम्मा संवेगावज्जभीरुणो धीरा।  
छंदण्हू पच्चइया पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू॥652॥  
कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणज्जदा सुद-रहस्सा।  
गीदत्था भयवंतो अडदालीसं तु णिज्जवया॥653॥  
णिज्जावया य दोण्णि वि होंति जहण्णेण काल-संसयणा।  
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते॥678॥

अर्थात् वे निर्यापक मुनि धर्मप्रिय, दृढ़श्रद्धानी, पापभीरू, परिषह-जेता, देशकाल-ज्ञाता, योग्यायोग्य-विचारक, न्यायमार्ग-मर्मज्ञ, अनुभवी, स्वपरतत्व-विवेकी, विश्वासी और परम उपकारी होते हैं। उनकी संख्या अधिकतम 48 और न्यूनतम 2 होती है।

आचार्य शिवार्य ने आराधक के सल्लेखना लेने, उसमें सहायक होने, आहार-औषध, स्थानादि देने तथा आदर भक्ति प्रकट करनेवालों को पुण्यशाली बतलाते हुए उनकी प्रशंसा की है (गाथा 1995-2005) -

ते सूरा भयवंता, आइच्चइदूण संघ-मज्झमि।

आराधणा-पडायं, च उप्पयारा धिदा जेहिं॥2010॥

- वे मुनि धन्य हैं, जिन्होंने संघ के मध्य जाकर समाधिमरण ग्रहणकर चार प्रकार की आराधनारूप पताका को ग्रहण किया है। वे शूवीर और पूज्य हैं।

ते धण्णा ते णाणी, लद्धो लाभो य तेहि सव्वेहिं।

आराधणा भयवदा, पडिवण्णा जेहि संपुण्णा॥2011॥

- वे धन्य और ज्ञानी हैं, जिन्होंने भगवती आराधना को सम्पूर्ण किया है और उन्हें जो प्राप्त करने योग्य था उसे प्राप्त कर लिया।

किं णाम तेहिं लोगे, महाणुभावेहिं हुज्ज ण य पत्तं।

आराधणा भयवदी सयला आराधिदा जेहिं॥2012॥

- जिन्होंने सम्पूर्ण भगवती आराधना का आराधन किया उन महानुभावों ने लोक में क्या प्राप्त नहीं किया।

ते वि य महाणुभावा, धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स।

सव्वादरसत्तीए, उवविहिदाराधणा सयला॥2013॥

- वे महानुभाव भी धन्य हैं जिन्होंने सम्पूर्ण आदर और शक्ति से उस क्षपक की आराधना सम्पन्न की है।

जो उवविधेदि सव्वादरेण आराधणं खु अण्णस्स।

संपज्जदि णिविग्घा सयला आराधणा तस्स॥2014॥

- जो निर्यापक सम्पूर्ण आदर के साथ अन्य की आराधना करता है, उसकी समस्त आराधना निर्विघ्न पूर्ण होती है।

ते वि कदत्था धण्णा, य हुंति जे पावकम्ममलहरणे।

णहायंति खवयत्तित्थे, सव्वादर-भक्ति संजुत्ता॥2015॥

- वे भी कृतार्थ और धन्य हैं जो पापकर्मरूपी मैल को छुड़ानेवाले क्षपकरूपी तीर्थ में सम्पूर्ण भक्ति और आदर के साथ स्नान करते हैं। अर्थात् क्षपक के दर्शन, वन्दन और पूजन में प्रवृत्त होते हैं।

गिरिणादियागिपदेशा, तित्थाणि तवोधणेहिं जदि उसिदा।

तित्थं कथं ण हुज्जो, तव गुणरासी सयं खवउ॥2016॥

- यदि तपस्वियों द्वारा सेवित पहाड़, नदी आदि प्रदेश तीर्थ होते हैं तो तपस्यारूप गुणों की राशि क्षपक स्वयं तीर्थ क्यों नहीं है!

पुव्वरिसीणं पडिमाउ, वंदमाणस्स होइ जदि पुण्णं।

खवयस्स बंदओ किह, पुण्णं विउलं ण पाविज्ज॥2017॥

- यदि प्राचीन ऋषियों की प्रतिमाओं की वन्दना से पुण्य होता है, तो क्षपक की वन्दना करनेवालों को विपुल पुण्य क्यों नहीं प्राप्त होगा?

जो ओलग्गदि आराधयं, सदा तिव्वभत्ति संजुत्तो।

संपज्जदि णिविग्घा, तस्स वि आराहणा सयला॥2018॥

- जो तीव्र भक्तिसहित आराधक की सेवा-वैयावृत्य करता है उस पुरुष की भी आराधना निर्विघ्न सम्पन्न होती है।

भगवती आराधना के रचयिता आचार्य शिवार्य वा शिवकोटि ने अपने इस ग्रन्थ में आर्य जिननन्दिगणी, सर्वगुप्तगणी, आर्य मित्रनन्दि का अपने विद्या वा शिक्षा गुरु के रूप में उल्लेख किया है कि उनके पादमूल में बैठकर सम्मसूत्र और उसके सूत्रार्थ की सम्यक् जानकारी प्राप्त की गई और आचार्यों द्वारा निबद्ध हुई आराधनाओं का उपयोग कर यह आराधना स्वशक्ति के अनुसार रची गई है। साथ ही अपने को पाणिदलभोजी (करपात्र आहारी) लिखकर दिगम्बर आचार्य के रूप में सूचित किया है -

अज्ज जिणणंदि गणि, सव्वगुत्तगणि अज्जमित्तणंदीणं।

अवगमिय पादमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च॥2174॥

पुव्वायरियणिबद्धा उवजीवित्ता इमा ससत्तीए।

आराहणा सिवज्जेण पाणिदल-भोइणा रइदा॥2175॥

जैसे आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के अन्त में अपनी महान विनीत भावना व्यक्त की है -

अक्षर-मात्र-पद-स्वर-हीनं, व्यंजन-संधि-विवर्जित-रेफम्।

साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं, को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे॥

अर्थात् इस शास्त्र में यदि मुझसे अक्षर, मात्रा, पद या स्वर की भूल हुई हो; व्यंजन संधि या रेफ के बिना कुछ लिखा गया हो तो सज्जन पुरुष मुझे क्षमा करें, क्योंकि शास्त्ररूपी समुद्र में कौन नहीं गोते खा जाता है?

इसी भाँति आचार्य शिवार्य ने ग्रंथ के अन्त में विनम्रता प्रकट की है -

छदुमत्थदाए एत्थ दु जं, बद्धं होज्ज पवयण-विरुद्धं।

सोधेंतु सुगीदत्था पवयणवच्छलदाए दु ॥2176॥

आराहणा भगवदी एवं भत्तीए, वणिणदा संती।

संघस्स सिवजस्स य समाहिवरमुत्तमं देउ॥2177॥

अर्थात् छद्मस्थता (ज्ञान की अपूर्णता) के कारण मुझसे कहीं कुछ प्रवचन (आगम) के विरुद्ध निबद्ध हो गया हो तो उसे सुगीतार्थ (आगम-ज्ञान में निपुण) साधु प्रवचन-वत्सलता की दृष्टि से शुद्ध कर लेवे और भक्ति से वर्णित यह 'भगवती आराधना' मुनि संघ को तथा मुझ (शिवार्य) को उत्तम समाधि प्रदान करे अर्थात् इसके प्रसाद से मेरा तथा संघस्थ सभी का समाधिपूर्वक मरण होवे।

चारित्र आराधना पर विशेष बल देते हुए आचार्य शिवार्य का परमार्थ वचन है - ज्ञान-दर्शन का सार तो शुद्ध चारित्र्य है। वास्तव में चारित्र की

आराधना करने से ज्ञान, दर्शन और तप - ये तीनों आराधनाएँ भी हो जाती हैं। (गाथा 12)

नेत्रों से देखने का सार सर्प, कण्टक, खड्डे आदि दोष निवारण कर चलना है। नेत्रों से देखकर भी कोई पुरुष खड्डे में पड़े तो उसके नेत्र निरर्थक हैं। वैसे ही जीव के ज्ञान-दर्शन नेत्र हैं। उन ज्ञान-दर्शन रूपी नेत्रों के होते हुए भी यदि कोई अचारित्ररूप खड्डे में पड़े अर्थात् चारित्र न पाले तो उसके ज्ञान-दर्शन किस काम के? अर्थात् ऐसी दशा में ज्ञान-दर्शन निरर्थक हैं। अयथार्थ फलप्रदायी है। (गाथा 13)

आचार्य कुन्दकुन्द का षट् पाहुड़ में चारित्र-विषयक सन्देश है -

चारित्त-समारूढो अप्पासु परं ण ईह ए णाणी।

पावड़ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो॥43॥ चा.पा.

- चारित्र में आरूढ़ ज्ञानी आत्मा, आत्मस्वरूप को छोड़कर इष्ट वनिता माला आदि सांसारिक पदार्थों की वांछा नहीं करते। वे मानव शीघ्र ही अनुपम सुख को प्राप्त करते हैं। हे आत्मन्! तू ऐसा निश्चय से जान।

चारित्ररहित ज्ञान निष्फल है। जिन तीर्थकरों ने ज्ञान का फल संयम कहा है, उन्हें भक्ति-भावों से नमस्कार है।

चारित्तं खलु धम्मो संयमः खलु चारित्तम्।

चारित्र की आराधना से ही मुक्ति संभव है।



\* यह लेख प्रकाशचंद्र शीलचंद्र जैन जौहरी, 1266, चाँदनी चौक, दिल्ली से प्रकाशित संस्करण पर आधारित है।

1-2. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान : डॉ. हीरालाल जैन, पृ. 106

3. जैन साहित्य और इतिहास : जुगलकिशोर मुख्तार, पृ. 485

## ‘भगवती आराधना’ में समाधिमरण की आराधना विधि

- डॉ. भागचन्द्र ‘भास्कर’



आचार्य शिवार्य कृत ‘भगवती आराधना’ समाधिमरण की आराधना-विधि के लिए एक प्राचीनतम दीपस्तम्भ है। उसी के आधार पर उत्तरकालीन आराधना-विषयक साहित्य का निर्माण हुआ है। इस आलेख में हम समाधिमरण की आराधना-विधि का चित्रण करते हुए ‘भगवती आराधना’ के विषय को संक्षेप में प्रस्तुत करेंगे, जिससे विषय का स्पष्टीकरण अधिक सबलतापूर्वक हो सके। इसी सन्दर्भ में हमने श्रवणबेलगोल के इतिहास को भी तीन चरणों में विभाजित करने का प्रयत्न किया है।

### मरण-विधि प्रकार

मरण, विगम, विनाश, विपरिणाम - ये सभी शब्द समानार्थक हैं। उत्पन्न हुई पर्याय के विनाश का नाम मरण है अथवा प्राण-विसर्जन का नाम मरण है। ‘भगवती आराधना’ में इसके 17 प्रकारों का उल्लेख है (गाथा 25)। भगवती सूत्र में यह संख्या 14 है। वहाँ मूल भेद दो हैं - बालमरण और पण्डितमरण। बालमरण के 12 भेद हैं और पण्डितमरण के दो भेद हैं - पादोपगमनमरण और भक्तप्रत्याख्यानमरण। भगवती आराधना के सत्तरह प्रकार के मरणों में तीन मरण उत्तम माने जाते हैं - प्रायोपगमन, इंगिणी और भक्त प्रत्याख्यान (गा. 25)।



आचार्य शिवार्य ने 17 मरण-प्रकारों में से पाँच प्रकारों का विशेष उल्लेख किया है - 1. पण्डित- पण्डितमरण, 2. पण्डितमरण, 3. बालपण्डितमरण, 4. बालमरण और 5. बालबालमरण (गाथा 26)।

**बालमरण और बालबालमरण** - इन मरणों में बालमरण सर्वाधिक निन्दनीय है। जो आग, शस्त्र, विषपान, पर्वत से पतन, रस्सी-बंधन, भूख-प्यास, जीभादि उखाड़ने आदि के द्वारा मरण किया जाता है वह बालमरण है। ऐसे जीव अत्यन्त भोगासक्त, अज्ञानी और विषय-लोलुपी होते हैं और वे इच्छा-पूर्ति न होने के कारण निराश होकर आत्महत्या कर लेते हैं। यह आत्महत्या साधारणतः निदानपूर्वक होती है जिसमें आसक्ति के साथ यह इच्छा की जाती है कि आगामी काल में यही होना चाहिए। यह निदान प्रशस्त, अप्रशस्त और भोगकृत होता है। यह मरण आर्त और रौद्रध्यानपूर्वक होता है। इसे 'वसट्टमरण' कहा जाता है। अविरत सम्यग्दृष्टि का मरण बालमरण है और मिथ्यादृष्टि का मरण बालबालमरण है। (गाथा 29)

इसके बाद पण्डितमरण के प्रसंग में सम्यक्त्व की आराधना का वर्णन किया गया है और वहाँ 'वर्णजनन' शब्द का नया प्रयोग महत्ता प्रदर्शित करने के अर्थ में हुआ है। (गाथा 45-46)

## पण्डितमरण

### 1. भक्त प्रत्याख्यान

प्रशस्त मरणों में पण्डितमरण के तीन भेदों का उल्लेख आता है - प्रायोपगमन, इंगिनी और भक्त प्रत्याख्यान। इनमें भक्त प्रत्याख्यान विशेष आकलनीय है। इसके दो भेद हैं - सविचार और अविचार। जब मरण सहसा न आया हो तो पूरे साहस और धैर्य के साथ उसका सामना करना सविचार भक्त प्रत्याख्यान है और जब वह सहसा आ जाता है और साहस-धैर्य नहीं रहता तो वह अविचार भक्त प्रत्याख्यान है (गाथा 64)। इसकी तैयारी इस प्रकार की जाती है -

#### (i) सविचार भक्त प्रत्याख्यान

सविचार भक्त प्रत्याख्यान की प्राथमिक तैयारी में साधक समता और शुभोपयोग के साथ मरण की तैयारी करता है। भयंकर दुर्भिक्ष हो, घनघोर जंगल में पथ अज्ञात हो जाए, इन्द्रियाँ बिलकुल दुर्बल हो गई हों, असह्य और असाध्य रोग से इतना पीड़ित हो कि आध्यात्मिक साधना का चलना असंभव-सा हो तब 'भक्त प्रत्याख्यान मरण' स्वीकार किया जाता है (गाथा 71-76)। आचार्य समन्तभद्र

ने भी रत्नकरण्ड श्रावकाचार में “उपसर्गेदुर्भिक्षे...” आदि कहकर इसी विचार का समर्थन किया है (पद्य 112)। श्रवणबेलगोल में इन्हीं परिस्थितियों में वृषभनन्दि, शशिमति, महादेव, विनयदेवसेन (7वीं शती), मेघचन्द्रदेव, देमियक्का आदि संतों ने ‘भक्त प्रत्याख्यान मरण’ का वरण किया था (Ec II 85, 86, 156 आदि)। इसी तरह अक्षयकीर्ति मुनि, बालचन्द्र, श्रितमुनि, नन्दिसेन के उदाहरण भी प्राप्त हैं। मुनि या श्रावक कोई भी साधक इस मरण को स्वीकार कर सकता है (गाथा 73)। इसे हम तीन चरणों में विभाजित कर सकते हैं -

1. **प्रथम चरण** - यहाँ आचार्यों ने भक्त प्रत्याख्यान ग्रहण करनेवाले साधक की योग्यता पर विचार किया है। साधक को अपरिग्रही और अचेलक अवस्था ग्रहण करनी पड़ती है (औत्सर्गिक लिंग)। इसमें केशलुंचन, शरीर से ममत्व त्याग और प्रतिलेखन भी होता है। श्रावक अवस्था में सवस्त्र लिंग अवस्था भी हो सकती है। स्त्रियों को अल्पपरिग्रही रखा जाना चाहिए (गाथा 80)। यहाँ लिंग ग्रहण के लाभों का परिगणन किया गया है, अचेलकता का भी (81-85)। केशलुंचन, मयूरपिच्छ-धारण आदि गुणों का यहाँ आलेखन मिलता है (86-97)। इस अवस्था में निर्ममत्व में सघनता लाने के लिए साधक श्रुताध्ययन, स्वाध्याय (98-110), विनय, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और उपचार, समाधि, अनियतवास, ध्यान, उपाधित्याग, श्रुति (संयम), भावना, सल्लेखना आदि धारण करता है (76-272)। भगवती आराधना में विस्तार से इन सभी बिन्दुओं पर विचार किया गया है और कहा गया है कि सल्लेखनाधारी अपरिग्रही साधु इस प्रक्रिया से राग-द्वेष को जीत लेते हैं (266-272)। यहाँ गाथा 251 में भिक्षु-प्रतिमाओं का निर्देश हुआ है। मूलाचार में इसका कथन नहीं है।

मूलाचार (1.2-3), प्रवचनसार (तृतीय अध्याय), सुत्तपाहुड (10.21), बोधपाहुड (51-57), भावपाहुड (54-55) में भी अचेलकता को विस्तार मिला है। अचेलकता की सभी ग्रंथों में प्रशंसा की गई है (मूला. 28-30, 650-652, आचारांग 16.3)। भावपाहुड में कहा है कि साधक जब तक अन्तरंग से निरासक्त होकर अचेलक नहीं होता है, वह सही साधना नहीं कर पाता (54, 55, 73)। अचेलकता या जिनमुद्रा धारण करने के भी कतिपय नियम हैं। साधक का शरीर निर्दोष हो, चारित्र निर्मल हो और मन अपराधशून्य हो (प्र. सा. 92)। महिला वर्ग को शारीरिक और मानसिक कारणों से जिनमुद्रा ग्रहण करने की अनुमति जैन परम्परा में नहीं दी गई (सुत्तपाहुड, 22-25)। अचेलक साधु पाणिपात्री होता है। अनियतवास या पैदल भ्रमण-यात्रा में वह अनपेक्षित व्यक्तियों से नहीं मिलता,

एकान्तवास करता है; पर्वत, गुहा या वृक्ष के नीचे रुकता है; उसी के निमित्त निर्मित भवनों में नहीं रुकता, क्षितिशयन करता है, या पाषाण या काष्ठफलक पर सोता है, दिन में एक बार भोजन ग्रहण करता है, वह भी ऊनोदर (प्र.सा. 29.18-19)।

श्रवणबेलगोल के इतिहास में तीन प्रकार के मुनि मिलते हैं - 1. निर्ग्रन्थ, 2. सवस्त्र भट्टारक, और 3. गणगच्छ। आचार्य जो संघ के प्रशासन में जुटे रहते हैं और निर्ग्रन्थ रहते थे। श्रुतमुनि दिगम्बर मुद्रा में थे और मयूरपिच्छ रखते थे। कुछ साधु गृद्धपिच्छ और बलाक पिच्छ भी रखा करते थे। कुन्दकुन्दाचार्य को वहाँ गृद्धपिच्छाचार्य कहा जाता है।

2. **द्वितीय चरण** - इसके बाद सल्लेखना धारण करनेवाला साधक अपने शरीर को अशुचि और भारभूत मानता है और उसे छोड़ने का निश्चय कर लेता है। सल्लेखनाधारी साधकों के मूलतः दो वर्ग होते हैं - आचार्य और साधु। सल्लेखना अधिक से अधिक बारह वर्ष की होती है जिसमें क्रम से शारीरिक ममता को तिलांजलि देते रहना पड़ता है। सल्लेखना लेने पर आचार्य को इन दश तत्त्वों का पालन करना पड़ता है (गाथा 298-385)।

(1) **दिसा** - आचार्य समस्त संघ को बुलाकर बालाचार्य की नियुक्ति करता है और गण की बागडोर उसे सौंप देता है ताकि साधना में कोई व्यवधान न आये (274-7)।

(2) **क्षमा ग्रहण** - साधक संघ से क्षमायाचना करता है और संघ भी उससे क्षमा भाव की प्रार्थना करता है (279-80)।

(3) **अनुशासन** - आचार्य फिर संघ के नवनियुक्त आचार्य को उपदेश देता है। भगवती आराधना में यह उपदेश लगभग 88 गाथाओं में दिया गया है जिसका सारांश यह है - शीलगुणों का पालन करना, निरतिचारपूर्वक रत्नत्रय का पालन करना, आहार, उपकरण और वसति का शोधन करना, संयमी रहना, दुःसह परीषहों को सहना, वैयावृत्य करना, पार्श्वस्थ साधुओं की संगति नहीं करना, आवश्यक कर्म करना (गाथा 281-385)।

(4) **परगण-गमन** - अनुशासन देकर आचार्य साधक अपना गण छोड़कर दूसरे गण में जाने का विचार करता है। भगवती आराधना में अपने गण में रहने

के नव दोष गिनाये हैं - आज्ञा कोप, कठोर वचन, कलह, दुःख आदि; निर्भयता, स्नेह, करुणा, ध्यान में विघ्न और असमाधि (आ. 387)। साधक 5 से 700 योजन दूरवर्ती गण में सम्मिलित हो सकता है।

(5) **मार्गणा** - क्षपक साधक निर्यापकाचार्य (पथदर्शक) को खोजता है और निर्यापकाचार्य क्षपक की परीक्षा लेता है, उससे चारित्र आदि की जाँच करता है। जब दोनों परस्पर में संतुष्ट हो जाते हैं तो उसे मार्गणा कहा जाता है (404)।

(6) **सुस्थित** - इसमें क्षपक और निर्यापकाचार्य के गुणों का उल्लेख है। पर-गण के साधु क्षपक को समुचित आदर देते हैं और संयमी तथा आगमज्ञ निर्यापकाचार्य आवश्यक, प्रतिलेखन आदि के माध्यम से उसकी परीक्षा कर गण की सहमतिपूर्वक उसे स्वीकार करता है। क्षपक के उपसर्पण (प्रार्थना) के साथ प्रक्रिया का प्रारंभ होता है। इस प्रसंग में आचेलक्य, औद्देशिक का त्याग, कृतिकर्म आदि दस कल्पों का विधान है (510-523)।

(7) **आलोचना** - क्षपक अपने दोषों की आलोचना करता है और निर्यापकाचार्य के समक्ष उनका प्रायश्चित्त करता है (524-631)।

(8) **वसति** - गाथा 528 में आचार्य के 36 गुण गिनाये गये हैं। इसके बाद अनुकूल वसति की खोज की जाती है जहाँ साधना में किसी प्रकार का व्यवधान न हो। वह गुहा या झोंपड़ी भी हो सकती है पर उसे स्वच्छ और निर्दोष होना चाहिए (638-645)। इसके लिए पृथक् मण्डल या साधारण घर भी बनाया जा सकता है।

(9) **संस्तर** - सल्लेखनाधारी साधक के लिए ऐसी वसतिका में संस्तरण लगाया जाना चाहिए। वह संस्तरण निर्दोष पृथ्वी पर, शिला पर, फलक पर या तृणों पर होना चाहिए। उसका शिर पूर्व या उत्तर दिशा में हो, शरीर प्रमाण हो। ऐसे संस्तरण पर क्षपक आहार को त्याग कर शरीरादि की सल्लेखना करता है (631-645)।

(10) **प्रकाशन** - निर्यापकाचार्य इसके बाद क्षपक की देखभाल के लिए 2 से 48 संख्या तक साधुओं को या निर्यापकों को नियुक्त करता है (647-669)। ये साधु उसे धार्मिक ग्रन्थों और कथाओं का श्रवण करते हैं और

उसकी सेवा में रत रहते हैं। इस समय निर्यापकाचार्य क्षपक को आहार के प्रति निरासक्त रखने का प्रयत्न करते हैं और अशन, खाद्य और स्वाद्य तीनों प्रकार का आहार छोड़ने के लिए प्रेरित करते हैं और मात्र पानक (पेय = पीने योग्य) आहार में उसे सीमित कराते हैं (694-698)।

भगवती सूत्र में भी सल्लेखना का इसी प्रकार वर्णन मिलता है (13.6.491)। मूलाराधना, अनागार धर्माभूत, आचारांग सूत्र, उत्तराध्ययन, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, संवेगरंगशाला आदि ग्रन्थों में भी सल्लेखना की प्रक्रिया का इसी तरह विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। भगवती सूत्र में श्रमण निर्ग्रन्थ धर्म का मूल रूप निर्वेद बताया है और कहा है कि सल्लेखना का साधक व्रती अपराध-स्वीकृति, पश्चात्ताप करता हुआ ध्यान और प्रत्याख्यान करता है। वहाँ दीक्षा का भी चित्रण हुआ है और निर्ग्रन्थ धर्म को लोहे जैसा कठिन/कठोर और धूलि जैसा निस्स्वाद माना है (13.6.491)। इसी ग्रन्थ में स्कन्दक को महावीर द्वारा दिया गया सल्लेखना व्रत का भी वर्णन मिलता है (2.1.94-95)।

श्रवणबेलगोला में सल्लेखना की इस प्रक्रिया को पाषाण पर उत्कीर्ण कर उसे मूर्तरूप दिया गया है। वहाँ श्रितमुनि को सल्लेखना लेते हुए चित्रित किया गया है। इसी तरह अजितसेन मुनि से गंगमारसिंह द्वारा समाधिब्रत लिए जाने का भी विषय उत्कीर्ण हुआ है (364)। इन उदाहरणों में दिसा, मार्गणा, आलोचना आदि का सुन्दर रूपायण मिलता है। मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव ने इसी प्रक्रिया से समाधिब्रत लिया और प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव को अपना उत्तराधिकारी बनाया। अनुशासन का भी चित्रण हुआ है। वादीभसिंह द्वारा अजितसेन और श्रितमुनि के उपदेश देते हुए चित्रित किया गया है (वही, 77, 389, 364)। क्षपक का स्व-गण परित्याग और पर-गण प्रवेश का भी ऐतिहासिक चित्रण हुआ है। आचार्य अरिष्टनेमि उत्तर से दक्षिण अपने शिष्यों के साथ आये और कटवप्र पर्वत पर समाधिमरण व्रत लिया (वही, 13)। इसी तरह आचार्य प्रभाचन्द्र का भी उल्लेख मिलता है (वही, 364)। पर-गण के आचार्य द्वारा समाधिमरण दिये जाने का विवरण यहाँ नहीं मिलता। श्रावक अवश्य अपने आचार्य के निर्देशन में समाधिमरण लेते हुए चित्रित हुए हैं। गंगमारसिंह, लक्ष्मीमती और माचिकव्वे के उदाहरण ऐसे ही हैं (वही, 64, 157, 173)।

श्रवणबेलगोल आचार्य भद्रबाहु के ही काल से समाधिमरण के लिए सर्वोत्तम स्थान माना जाता रहा है। पहले तो वह सर्प, भालु, सिंह आदि से व्याप्त था।

बाद में वह तीर्थस्थल बन गया और गुफायें, मंदिर, निसिधि-मण्डप आदि का निर्माण हो गया। गुणकीर्ति, अनन्तमतिगति, प्रभाचन्द्र, चन्द्रदेवाचार्य, कनकसेन आदि साधक मुनियों ने पर्वत का कोई भाग अपने मरणान्तिक तप के लिए चुना और समाधिमरण पाया। अजितकीर्तिदेव और मल्लिषेणदेव ने भद्रबाहु गुफा में अपना प्राण विसर्जन किया। मलधारिदेव ने पार्श्वनाथ वसदि और चारुकीर्ति पण्डितदेव ने सिद्धर वसदि का चुनाव किया।

10-11वीं शती में समाधिमरण व्रत का परिपालन करने के लिए पृथक् रूप से मण्डल बनाये जाने लगे। ये मण्डल, प्राथमिक स्तर पर साधारण तौर पर बनाये जाते थे और बाद में इन्हें पाषाण-निर्मित कर लिया जाता था। इन्हें साधक के सम्बन्धी बनवाते थे या गणाचार्य। चन्द्रगिरि पर ऐसे अनेक मण्डप विद्यमान हैं। निर्यापकाचार्य, उनका संघ और दर्शनार्थी इन मण्डपों में आया-जाया करते थे। निर्यापकाचार्य के निर्देशन में समाधिमरण की सारी प्रक्रिया पूरी की जाती थी। कुमारसेन, मलधारिदेव, प्रभाचन्द्र, चारुकीर्ति, अभिनव पण्डितार्य, देवकीर्ति, शुभचन्द्रदेव अनेक ऐसे आचार्यों का उल्लेख श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में आता है जो निर्देशन के साथ ही उपदेश भी देते थे। संघ और श्रावकगण साधक की वन्दना करने जाया करते थे। ऐसे साधकों को अन्तिम समय दीक्षा भी दे दी जाती थी और अन्तरंग और बाह्य तप को धैर्य के साथ पूरा करने का उपदेश दिया जाता था। माचिकव्वे और शान्तिकव्वे को इसी तरह दीक्षा दी गयी थी। प्रभाचन्द्रदेव ने उनके गंगराज और लक्ष्मीमती आदि जैसे अभिभावकों को निसिधि, मण्डप आदि बनाने की भी प्रेरणा दी।

साधक समाधिमरण-काल में कुक्कुटासन, पत्यंकासन, कायोत्सर्ग या एकपाश्व्र ग्रहण करते थे। इनमें मलधारिदेव ने कुक्कुटासन, मेघचन्द्रदेव ने पत्यंकासन और चतुर्मुख ने कायोत्सर्ग को स्वीकार किया था। माचिकव्वे ने संन्यास ग्रहण किया और जिनेन्द्र का स्मरण करते हुए णमोकार मन्त्र के उच्चारण के साथ अपना जीवन समाप्त किया। श्रितमुनि ने भी इसी तरह अधोन्मीलित मुद्रा में सिद्धावस्था का ध्यान करते हुए समाधिमरण पूरा किया। अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन उनकी साधना का सम्बल रहा।

**3. अन्तिम चरण** - इस अवस्था में प्रत्याख्यान के माध्यम से साधक शरीरादि से ममता का त्याग करता है और निम्नलिखित दस बिन्दुओं को स्वीकार करता है ताकि सांसारिक अवस्था से पूर्णतः निर्मोही बना जा सके। ये दस बिन्दु

हैं - क्षमा, कर्मक्षपण, अनुश्रुति, सारणा, कवच, समभाव, ध्यान, लेश्या, फल और विजहण (699-708)।

(1) क्षमा - क्षपक साधक सर्वप्रथम समस्त मुनि संघ से अपने कृत अपराधों के प्रति क्षमायाचना करता है और वैराग्य भाव के कारण कर्म निर्जरा करता है (709-714)।

(2) कर्मक्षपण - संस्तर पर आरूढ़ क्षपक प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, विनय, स्वाध्याय और बारह भावनाओं के चिन्तन से कर्मों की निर्जरा करता है।

(3) अनुश्रुति - इसी समय निर्यापकाचार्य उसे कान में रत्नत्रय का परिपालन करते हुए सल्लेखना लेने के लिए आदेश देता है तथा मिथ्यादर्शन, माया और निदान इन तीनों शब्दों से मुक्त होकर महाव्रतों का पालन, कषायों का निग्रहण, जिन भक्ति, नमस्कार मन्त्र की आराधना, ज्ञानोपयोग में लीन होने आदि के लिए प्रेरित करता है, ध्यान का वर्णन करते हुए द्वादश अनुप्रेक्षाओं का उपदेश देता है (719-1484)। गाथा 1057-1059 में संसाररूपी वृक्ष का चित्रण है जिसमें एक पुरुष वृक्ष की डाल पकड़कर मोहवश लटका हुआ है और दो चूहे उस डाल को काट रहे हैं। इसे 'मधुबिन्दु' कहा जाता है। अनेक कथाओं का भी इस सन्दर्भ में कथन हुआ है।

(4) सारण - समाधिमरण स्वीकार करने के बाद साधक के सामने ऐसी अनेक समस्याएँ आती हैं जिनसे उसका मन विचलित (सारण) हो सकता है। ऐसी स्थिति में निर्यापकाचार्य का कर्तव्य है कि वह उसे विचलित होने से रोके। उसे अनुकूल पानक दे, रोग की चिकित्सा करे, आहारादि के प्रति उसकी आसक्ति को उपदेश देकर दूर करे और कटुक वचन न बोले (1485-1507)।

(5) कवच - यदि साधक कठिनाइयों से मुक्त होकर आगे बढ़ जाये तो निर्यापकाचार्य उसे उपदेश का ऐसा कवच दे जो परीषहों का निवारण कर सके, व्याधि और वेदना को दूर कर सके, निरासक्ति को दूर कर रत्नत्रय के प्रति राग पैदा कर सके। आचार्य शिवार्य ने लगभग 200 गाथाओं में उपमा और उत्प्रेक्षा के साथ इस प्रकार के उपदेश की रूपरेखा दी है (1508-1517)।

(6) समभाव - कवच से साधक संक्लेश परिणामों को दूरकर समभाव में प्रतिष्ठित होता है (1518-1681)।

(7-8) **ध्यान और लेश्या** - साधक आर्त और रौद्र ध्यान से मुक्त होकर धर्मध्यान और शुक्लध्यान की ओर आगे बढ़ता है। ये शुभ ध्यान उसे इन्द्रिय और कषाय विजयी बनाते हैं।

(9) **फल** - धर्मध्यान में आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय पर चिन्तन करने से तथा अनुप्रेक्षाओं पर भावना भाने से वीतरागता बढ़ती है (1682-1867)। शुक्ल ध्यान में मन और गहराई से एकत्रित होने लगता है और सभी प्रकार की क्रियाओं से वह मुक्त हो जाता है (1668-1899)। गाथा 1703 में धर्मध्यान का वर्णन हुआ है।

(10) **विजहण** - सल्लेखनापूर्वक मरण होने के बाद शरीर को जलाने की क्रिया को विजहण कहते हैं।

साधक द्वारा की गई इस आध्यात्मिक यात्रा से उसकी आराधना सफल हो सकती है। यह आराधना तीन श्रेणियों से गुजरती है - (1) उत्कृष्ट - जिससे सिद्धत्व प्राप्त हो जाता है, (2) मध्यम - जिससे वह अनुत्तर विमान में पैदा होता है। और (3) जघन्य - जिससे साधक सौधर्मेन्द्र और अन्य स्वर्गों में जन्म ग्रहण करता है। यदि साधक किसी कारणवश विचलित होता है तो वह फिर विराधकों की श्रेणी में आ जाता है (1865-1866)। इसे 'असमाधिमरण' कहा जाता है जो बालमरण के समान होता है (1956-58)।

साधक का यह कठिन समय अल्पकालीन रहता है, तीन दिन, इक्कीस दिन या एक माह। निर्यापकाचार्य इस काल में साधक को अडिग रहने की प्रेरणा देता है। अन्य साधु-श्रावकगण भी उसे संबोधन करते रहते हैं। साधक भी इन्द्रियसंयमी होने का प्रयत्न करता है, ध्यान-साधना करता है, त्रिशल्यों को दूर करता है, वह जिन, अर्हत् और निजात्मा पर विचार करता है। इससे वह सिद्धत्व प्राप्त कर लेता है। शिलालेखों में श्रितमुनि, प्रभाचंद्र, वूचण, मारसिंह, माचिकब्बे आदि साधक-साधिकाओं के उल्लेख मिलते हैं।

### मरणोत्तर कार्य (विजहण)

साधक के समाधिमरण हो जाने के बाद उसके शरीर को जलाने की विधि को 'विजहण' कहा जाता है और जहाँ जलाते हैं उसे 'निसीधिका' कहा जाता है। इस सम्बन्ध में दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्पराएँ लगभग समान हैं। वैयावृत्य करनेवाले ही उनका यह अन्तिम कार्य करते हैं (1961-67)। इसके लिए निसीधिका



एकान्त में हो, नगर से अधिक दूर न हो, शुद्ध हो। वह क्षपक के संस्तरण से पश्चिम-दक्षिण दिशा में, या दक्षिण दिशा में या पश्चिम दिशा में हो (1965-66)।

### (1) अविचार भक्तप्रत्याख्यान

यदि सहसा मरण उपस्थित हो जाये तो साधक 'अविचार-भक्त-प्रत्याख्यान' स्वीकार करता है। वह तीन प्रकार का है - निरुद्ध, निरुद्धतर और परमनिरुद्ध। चलने में अशक्त होने पर निरुद्ध भक्त होता है। इसमें साधक अपनी परिचर्या स्वयं करता है और आवश्यकता होने पर ही दूसरे की सहायता लेता है। सर्पादि के डसने से सहसा मरण आने पर साधक आचार्य से आलोचना प्रतिक्रमण करता है (2006-2015)।

### (2) इंगिनीमरण

इंगिनीमरण वही साधक करता है जिसने आत्मस्वरूप का स्वानुभव कर लिया हो और मृत्यु की इच्छा करता हो। भक्तप्रत्याख्यान में और इंगिनीमरण में अन्तर यह है कि भक्त प्रत्याख्यान में साधक दूसरे से सेवार्ये ले सकता है जबकि इंगिनीमरण में उसे सब-कुछ स्वयं करना पड़ता है। प्रायोपगमन में इन दोनों तत्त्वों की अनुमति नहीं है। इंगिनीमरण में अंगोपांग चला सकता है जबकि प्रायोपगमन में ध्यान मुद्रा अचल रहती है।

भगवती आराधना में 33 गाथाओं में इंगिनीमरण की व्याख्या की है। तदनुसार इस मरण की भी विधि 'भक्त प्रत्याख्यान' जैसी ही है। इसमें साधक निर्ग्रन्थ अवस्था धारण कर श्रुताभ्यास, विनय और समाधि में स्थिर रहता है। संघ को सूचित कर आलोचना, प्रत्याख्यान, तप, इन्द्रियसंयम आदि करता हुआ संघ से निकलकर गुफा आदि में तृणादि का संस्तरण लगा कर जीवनपर्यन्त आहारादि का त्याग कर धर्मध्यान करता है, अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करता है, और सभी प्रकार के उपसर्ग और परीषह सहता है (2023-55)।

इंगिनीमरण के साहित्यिक उल्लेख कम मिलते हैं। त्रिषष्टि शलाकापुरुषचरित में कुमारनन्दिन और नागिल का उल्लेख आता है। कुमार अग्निदाह करना चाहता था पर नागिल ने इसे इंगिनीमरण की ओर प्रेरित किया। शिवकोट्याचार्य की कन्नड़ बड़ढाराधने (पृ. 343) में चाणक्य का उदाहरण दिया गया है जिसने इंगिनीमरण स्वीकार किया था। कन्नड़ शिलालेख (ई. 1000) में मुनि सिंहनन्दि का नाम आता है जिन्होंने इंगिनीमरण स्वीकार किया। उनकी स्मृति में वहीं स्मारक भी बनाया गया।

### (3) प्रायोपगमन मरण

प्रायोपगमन या पादोपगमन मरण भी पण्डितमरण का ही भेद है। इसमें साधक दूसरे की सेवा भी स्वीकार नहीं करता। वह कटे हुए वृक्ष की तरह अचल रहता है। यह मरण वही स्वीकार कर पाता है जिसके वज्रवृषभ नाराच संहनन होता है। आचारांग सूत्र में भी इसका वर्णन मिलता है (1.7.8.19-24)। भगवती आराधना में पन्द्रह गाथाओं में इसका वर्णन हुआ है (2056-70)। इस मरण का वरण करनेवालों में अयोध्या का धर्मसिंह राजा, पाटलिपुत्र का ऋषभसेन श्रेष्ठी और शकटाल का उदाहरण दिया गया है। यहाँ गाथा 2069 की कथा (क्र. 156) में यतिवृषभ का उल्लेख हुआ है। इन कथाओं में विविध उपसर्गों का उल्लेख हुआ है।

कन्नड़ लेखकों में शिवकोट्याचार्य, पम्प, पोन्न, चामुण्डराय, नागवर्मा द्वितीय, कर्णपार्य, शान्तिनाथ, बन्धुवर्म, अग्गल आदि कवियों ने इस मरण पर विचार किया है। प्रायोपगमन और वीर प्रायोपगमन का भी उल्लेख आता है। प्रतिमायोग और कायोत्सर्ग जैसे आसनों का उपयोग किया जाता है। भगवान बाहुबली ने कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े रहकर चींटियों, साँपों आदि के आक्रमण झेले। प्रायोपगमन में नीहार (अनियत स्थान मृत्यु का) और अनिहार (निश्चित स्थान मृत्यु का) ये दो प्रकार की मृत्यु होती हैं।

### (4) बालपण्डितमरण

जो समस्त व्रतों का एकदेश पालन करता है, गृहस्थ धर्म का पालन एकदेश रूप में करता है वह देशसंयमी है। ऐसा देशसंयमी श्रावक पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का पालन करता है। सहसा मरण उपस्थित होने पर अपने दोषी की आलोचनापूर्वक शल्यरहित होकर अपने घर पर ही संस्तरण लगाकर वह श्रावक मरण को वरण करता है। उसका यह मरण बालपण्डितमरण है। शेष विधि भक्तप्रत्याख्यान मरण के समान है। वह श्रावक मरकर वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है और सात भवों में मुक्ति प्राप्त करता है (2072-80)।

### (5) पण्डितपण्डित मरण

पण्डित मरण में साधु क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होने की इच्छा से अप्रमत्त गुणस्थान में धर्मध्यान करता है, एकपार्श्व से लेटकर श्रुतस्मरण करता है, अनन्तानुबन्धी कषायों का क्षयकर मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतियों

का क्षयकर क्षायिक सम्यक्दृष्टि होकर अप्रमत्त गुणस्थान में अधःप्रवृत्तकरण करता है। बाद में क्रमशः अपूर्वकरण, सूक्ष्मसांपराय, क्षीणकषाय आदि गुणस्थानों को प्राप्त करता हुआ घातिया कर्मों का विनाश कर केवलज्ञान प्राप्त करता है और फिर अघातिया कर्मों का भी विनाश करने के लिए सत्यवचन योग, अनुभयवचन योग, सत्यमनोयोग आदि के निग्रह का प्रारम्भ करता है (2081-2102)।

समुद्घात - भगवती आराधना के अन्त में समुद्घात प्रक्रिया दी हुई है। समुद्घात का तात्पर्य है जीव के प्रदेशों का शरीर से बाहर दण्ड आदि के आकार रूप से निकलना। वे ही केवलज्ञानी समुद्घात क्रिया करते हैं जिनकी आयु छह माह शेष रह जाती है। शेष केवलज्ञानी समुद्घात करते भी हैं, नहीं भी करते हैं। वे सयोग केवलीजिन समुद्घात किये बिना 'शैलेशी अवस्था' को प्राप्त कर लेते हैं जिनकी नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति आयुर्कर्म के समान होती है। जिनकी स्थिति असमान होती है वे समुद्घात करके ही 'शैलेषी अवस्था' पाते हैं। समुद्घात करने से स्थितिबंध का कारण जो स्नेह गुण है वह नष्ट हो जाता है और फलतः शेष कर्मों की स्थिति घट जाती है उसी तरह जैसे गीले कपड़े को फैलाकर सुखा दिया जाता है। बाद में शुक्लध्यान के द्वारा योगनिरोध कर अयोगकेवली गुणस्थान को प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं, सिद्ध हो जाते हैं (2103-2127)।

### 3. समाधियोग

मरणसमाधि की सार्थकता समाधियोग से है। समाधियोग का तात्पर्य है - मन-वचन-काय को एकाग्र करना। इसे शुद्धोपयोग और ध्यान कहा जाता है। यह ध्यान शुभोपयोग और अशुभोपयोग से हटकर है। यह समाधि दो श्रेणियों में विभाजित है - पहली श्रेणी में साधक किसी वस्तु विशेष पर ध्यान करता है और दूसरी श्रेणी में वह वस्तु भी अलग हो जाती है। इसे शुक्ल ध्यान कहा जा सकता है।

समाधि का अभ्यास शिक्षाव्रतों से होता है। सामायिकव्रत उनमें प्रमुख है। सामायिक में साधक आत्मचिन्तन करता हुआ अपना ध्यान अशुभोपयोग से हटाकर शुभोपयोग में केन्द्रित करता है। पूज्यपाद ने इसे 'एकत्वगमन' कहा है (स.सि. 7.21)। सामायिक षडावश्यकों में प्रथम आवश्यक है। चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना,

शील के 18,000 भेदों की पूर्णता की अवस्था है शैलेषी अवस्था।

प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग समाधि के ही अंग हैं। सामायिक से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। सामायिक करनेवाले को समन्तभद्र ने ऐसा मुनि माना है जिसे लोगों ने वस्त्र से आवृत कर दिया हो (रत्नकरण्ड. 102)।

सामायिक साधक को आर्त-रौद्र ध्यान से मुक्त कर शुक्लध्यान की ओर ले जाता है। श्रुति और वन्दना उसे सहयोग करती हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने परमभक्ति, निवृत्तिभक्ति, योगभक्ति का विधान किया है (नियमसार 135)। उन्होंने प्रतिक्रमण में भी व्यवहार और निश्चय प्रतिक्रमण का क्रम देकर साधक को प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग करने की प्रेरणा दी है (वही, 83-91)। दशवैकालिक सूत्र में समाधि को विनय, श्रुत, तप और आचार पर आधारित बताया है।

समाधि के लिए तप करना नितान्त अनिवार्य है। तप यदि सम्यक् है तो वह कर्मरूपी ईंधन को जला देता है, अन्यथा मात्र शरीर को सुखाना 'बालतप' होगा। बाह्यतप के साथ ही अभ्यन्तर तप करने से मन केन्द्रित हो जाता है, संलीनता की स्थिति आ जाती है और ध्यान की प्राप्ति होती है। जब ध्यान में विषय-विषयी एक हो जाते हैं तो उसे 'समाधि' कहा जाता है। आचार्य शुभचन्द्र से ध्यान को 'शुभ', 'अशुभ' और 'शुद्ध' में वर्गीकृत किया है। कतिपय आचार्यों ने उसे 'प्रशस्त' और 'अप्रशस्त' में विभाजित किया है। अप्रशस्त ध्यान में आर्त और रौद्र ध्यान आते हैं और प्रशस्त ध्यान में धर्मध्यान और शुक्लध्यान का अन्तर्भाव होता है। शुक्लध्यान वज्रवृषभ नाराचसंहननवाले ही कर पाते हैं। इसमें चौदहपूर्वों का गहन अभ्यास और आत्मचिन्तन होता है। यहाँ तक साधक बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है। बाद में वह केवली बनकर मुक्त हो जाता है। योगशास्त्र और ज्ञानार्णव में ध्यान के चार भेद किये गये हैं - पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। द्रव्यसंग्रह में इसे पंचपरमेष्ठियों का ध्यान बताया है।

कायक्लेश समाधि का ही एक भाग है। समाधि में आसनों का भी बहुत महत्त्व है। सर्वप्रथम समाधि के लिए स्थान का चुनाव किया जाता है। यह स्थान निष्कण्टक होना चाहिए जहाँ न दुष्ट राजा हो न जुआरी-शराबी हों। वह स्थान भीड़मुक्त हो; न अधिक उष्ण और न अधिक ठण्डा हो। जिनसेनाचार्य ने ऐसे समाधि-योग्य स्थानों की सूची दी है जिनमें प्रमुख हैं - श्मशान, उजड़े घर या उद्यान, नदी का किनारा, पर्वत, गुफा, जंगल, जिनालय। वृक्ष के नीचे ध्यान करना सर्वाधिक अनुकूल होता है (पूर्वपुराणम् 21.57.58)।

समाधियोग्य आसनों में शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में निम्नलिखित आसन विशेष उपयोगी बताए हैं - पर्यकासन, अर्धपर्यकासन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, पद्मासन और कायोत्सर्ग। इनमें पर्यकासन और कायोत्सर्ग आसन अधिक अनुकूल होते हैं (28.10-12)। प्राणायाम समाधि में उपयोगी नहीं होता। कायोत्सर्ग आदि करते समय ललाट और नासिकाग्र पर चित्त को केन्द्रित करना चाहिए। आसनों के साथ साहित्य में विविध योगों का वर्णन मिलता है - क्रियायोग, प्रतिमायोग, त्रिकालयोग, नित्ययोग, आतपयोग, एकपादतप, एकशैयासनतप, कायक्लेशतप, पंचाग्नि तप, परमयोग, प्रतिमानियोग, सूक्ष्म शरीरयोग, सूर्य प्रतिमा योग, स्थान योग आदि। इन आसनों में पर्यकासन, पद्मासन, कायोत्सर्ग और प्रतिमायोग, वीरासन, कुक्कुटासन अधिक लोकप्रिय रहे हैं। बाहुबली का कायोत्सर्ग प्रसिद्ध ही है। अधिकांश प्रतिमाएँ पर्यकासन में मिलती हैं। शुभोपयोग के लिए दोनों आसन अच्छे माने जाते हैं।

समाधिमरण के सन्दर्भ में वड्डाराधने में सद्धर्म, उपशमन, परित्याग आदि शब्दों का उपयोग हुआ है। उसमें इसके लिए पर्यकासन, कायोत्सर्ग, वीर शैय्यासन और एकपार्श्वनियम अधिक उपयोगी माना है। साधक की इच्छाशक्ति और रत्नत्रय के प्रति भक्ति उसमें सभी तरह के परीषहों को सहन करने का अदम्य साहस भर देती है। वह 'समाधिमरण भवतु' सोचता रहता है और मुक्ति-प्राप्ति का लक्ष्य बनाये रखता है।

दक्षिण में समाधिमरण के शिलालेखीय प्रमाण बहुत मिलते हैं। ये उल्लेख 600 ई. से 1517 ई. तक के शिलालेखों में उत्कीर्ण हैं। लगभग 110 शिलालेखों में 115 साधकों के नामोल्लेख हैं जिन्होंने समाधिपूर्वक अपने प्राण त्यागे थे। श्रवणबेलगोल में ऐसे उल्लेख बहुत हैं जो समाधिमरण की ओर संकेत करते हैं। समाधि के साथ ही वहाँ संन्यास, आराधना, सल्लेखना, पंचपद आदि शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। यहाँ के साधकों में गृहस्थ और मुनि, उपासिकायें और आर्यिकाएँ सभी सम्मिलित हैं। श्रवणबेलगोल ही नहीं, समूचे कर्णाटक में इसके शिलालेखीय प्रमाण मिलते हैं। शिमोग, मैसूर, धारवाड और बीजापुर उनमें प्रमुख हैं। इन साधकों में मूलसंघ, द्रविडसंघ, यापनीयसंघ के साधु अधिक रहे हैं। ये उल्लेख सातवीं शती से ही मिलने लगते हैं। इन साधकों में माचिकब्बे, बालचन्द्र श्रितमुनि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं जिन्होंने संसार की नश्वरता और जीवन का अन्तिम

काल जानकर समाधिमरण ग्रहण किया। प्रभाचन्द्रदेव, रामचन्द्र मलधारीदेव, मल्लिषेण, सकलचन्द्र, शान्तकरसी, आर्यदेव आदि साधकों के नाम भी स्मरणीय हैं।

### पंचपद के उच्चारण के साथ समाधिमरण

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पंचपरमेष्ठियों का प्रतिनिधित्व करनेवाले णमोकारमंत्र की आराधना के माध्यम से भी समाधिमरण की प्रक्रिया पूरी की जाती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्राकृत पंचपरमेष्ठी भक्ति और पूज्यपाद ने संस्कृत पंचपरमेष्ठी भक्ति में इन पंचपरमेष्ठियों के स्वरूप को स्पष्ट किया है। ब्रह्मदेव ने 'पंचनमस्कार' में 12,000 पद्यों में यही कार्य विस्तार से किया है (द्रव्यसंग्रह, पृ. 113)। अरिहन्त और सिद्ध की भक्ति से भी गृहस्थों को सिद्धि मिल सकती है। जीवन में समागत कठिनाइयों को दूर करने के लिए भी पंचपरमेष्ठियों का जप किया जाता है। दर्शन प्रतिमा में यही कहा जाता है कि पंचपरमेष्ठियों की शरण में जाने से मुक्ति भी प्राप्त हो सकती है (रत्न. श्राव. 137)। इसे नामस्मरण भी कहा जाता है। सालम्बन ध्यान भी यही है।

‘णमो अरिहंताण, णमो सिद्धाणं,  
णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं,  
णमो लोए सव्वसाहूणं’

इसे णमोकारमंत्र कहते हैं। इसमें 35 अक्षर हैं। इसके संक्षिप्त उच्चारण से भी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। जैसे 'अरिहंत सिद्ध आइरिय, उवज्झाय-साधु' (16 अक्षर); अरिहंत सिद्ध; 'ॐ णमो सिद्धाणं'; 'अ सि आ उ सा'; 'अरिहंत सिद्ध'; 'अरिहंत'; 'अ सि साहु'; 'सिद्ध' या 'ॐ' का भी जप किया जा सकता है। ॐ पद अर्हत, अशरीर, आचार्य, उपाध्याय और मुनि पदों से प्रथम अक्षर लेकर बनाया गया है। जिनसेनाचार्य ने आदि पुराण (245-250) में किस पद का उच्चारण या ध्यान कहाँ पर किया जाना चाहिए, यह भी बताया है। जैसे - सिद्ध परमेष्ठी का ललाट में, अरिहंत परमेष्ठी का हृदय में, आचार्य का शिर में, उपाध्याय और साधु का दोनों भुजाओं में उच्चारण या ध्यान करने से भवबाधा दूर हो जाती है।

इस णमोकार मंत्र को पंचनमस्कार, पंचगुरुस्मरण, पंचपरमेष्ठीनमस्कार पंचपरमेष्ठीपद, पंचाक्षरपद आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है। यह सकल मंगल का कारण है। अनुपम निःश्रेयस साधन करण है, अखिल मलहारी है,

अक्षय मंत्र पदंगलु है। चावुण्डराय ने कुछ ऐसे साधकों के उदाहरण दिये हैं जिन्होंने पंचपदनमस्कार का उदाहरण-ध्यानकर अपनी आपत्तियों को दूर किया है। जैसे जयकुमार की पत्नी ने अपने पति को मुक्त कराया। नयसेन ने चन्द्रलेखा को; वरांग, धन्यकुमार, कंस, सीता के भी उदाहरण दिये हैं। नागचन्द्र, पार्श्वपण्डित, पम्प, नागवर्म आदि आचार्यों ने पंचपदों पर चिन्तन किया है और किसी भी स्थिति में उसका उच्चारण या ध्यान करने की सलाह दी है।

महाकवि पम्प ने इस सन्दर्भ में अपने आदिपुराण में महाबल की कथा विस्तार से दी है जिसमें पंचनमस्कार का जप करते हुए उसने प्रायोपगमन मरण के माध्यम से अपना शरीर त्याग किया। आचरण ने वर्धमान महावीर का उदाहरण भी विस्तार से दिया है।

दक्षिणवर्ती जैन शिलालेखों में इस प्रकार के अनेक उदाहरणों का उल्लेख है जिनमें पंचनमस्कार का ध्यानकर साधकों ने मरण प्राप्त किया। डॉ. सेट्टर ने ऐसे लगभग एक शतक उदाहरण साहित्य और शिलालेखों से खोज निकाले हैं जिनमें साधकों ने पंचपद के उच्चारणपूर्वक समाधि ली, सल्लेखना धारण की। उनकी निषद्याएँ भी मिलती हैं जो स्मारक के रूप में लगभग 11वीं से 14वीं शताब्दी में निर्मित की गई थीं।

इस प्रकार भगवती आराधना में मरण की विधि का सांगोपांग विवेचन हुआ है और उसी के आधार पर श्रवणबेलगोल में जैनाचार्यों और गृहस्थों ने इस विधि का उपयोग कर अपने सांसारिक भाव को सुधारने का प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से श्रवणबेलगोल ने एक पुण्यस्थली का रूप ले लिया जहाँ भगवती आराधना में निर्दिष्ट विधि को व्यावहारिक रूप दिया गया।

तुकाराम चाल

सदर

नागपुर 440001

---

\* यह लेख जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर से प्रकाशित संस्करण पर आधारित है।

**शिवार्यकृत भगवती आराधना में चित्रित  
'समाहित चित्त' का स्वरूप एवं उपयोग :  
सल्लेखना के परिप्रेक्ष्य में  
- डॉ. पी. सी. जैन**



**मंगलाचरण**

सकल विभाव अभावकर, करूँ आत्मकल्याण।  
परमानन्द-सुबोधमय, नमूँ सिद्ध भगवान॥1॥  
आत्मसिद्धि के मार्ग का, जिसका सुभग विधान।  
उस समाधियुक्त मरण का, करूँ पत्र बखान॥2॥

‘सल्लेखना’ शब्द जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है सम्यक्कायकषायलेखना<sup>1</sup> - सम्यक् प्रकार से काय और कषाय दोनों को कृश करना सल्लेखना है। आचार्य समन्तभद्र<sup>2</sup> के अनुसार उपायरहित उपसर्ग, दुष्काल, बुढ़ापा तथा असाध्य रोग वगैरह के आने पर रत्नत्रय स्वरूप धर्म का उत्तम रीति से पालन करने के लिए शरीर छोड़ना सल्लेखना है। जिस क्रिया में बाहरी शरीर और भीतरी रागादि कषायों का, उनके निमित्त कारणों को कम करते हुए हर्षपूर्वक बिना किसी दबाव के स्व-इच्छा से कृश किया जाता है उस क्रिया का नाम सल्लेखना है। इसी को समाधिमरण भी कहा जाता है। यह यावज्जीवन पालित एवं आचरित समस्त व्रतों तथा चारित्र की संरक्षिका है। श्रावक के द्वारा द्वादश



व्रतों और साधु के द्वारा पंच महाव्रतों के अनन्तर पर्याय के अन्त में इसे ग्रहण किया जाता है।<sup>3</sup>

स्व-परिणामानुसार प्राप्त जिन आयु, इन्द्रियों और मन, वचन, काय इन तीन बलों के संयोग का नाम जन्म है, उन्हीं के क्रमशः अथवा सर्वथा क्षीण होने को मरण कहा गया है। यह मरण दो प्रकार का है - (1) नित्य मरण, (2) तद्भवमरण। प्रतिक्षण जो आयु आदि का हास होता रहता है वह नित्यमरण है तथा शरीर का समूल नाश हो जाना तद्भवमरण है।<sup>4</sup> नित्यमरण तो निरन्तर होता रहता है, उसका आत्म-परिणामों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, पर शरीरान्त रूप जो तद्भवमरण है उसका कषायों एवं विषय-वासनाओं की न्यूनाधिकता के अनुसार आत्मपरिणामों पर अच्छा या बुरा प्रभाव अवश्य पड़ता है। इस तद्भवमरण को सुधारने और अच्छा बनाने के लिए ही सल्लेखना ली जाती है। सल्लेखना से अनन्त संसार की कारणभूत कषायों का आवेग समाप्त या क्षीण हो जाता है, जिससे जन्म-मरण का चक्र बहुत ही कम हो जाता है।

### सल्लेखना के मुख्य अंग

1. तप द्वारा आहार को धीरे-धीरे कम करते जाना।
2. कषायों का उपशमन व अल्पीकरण।
3. शरीर को समाधिस्थ, शान्त व स्थिर रखने का अभ्यास।
4. योग (मन, वचन, काया) की संलीनता।

### सल्लेखना की विशेषताएँ

1. साधक को यह ज्ञान हो कि शरीर व आत्मा अलग-अलग हैं।
2. आत्मा निश्चयनय से पूर्णतया विशुद्ध है।
3. कर्मों के कारण जन्म-मरण और संसार है।
4. तप द्वारा निर्जरा पर बल, कर्म क्षय की प्रक्रिया।
5. वृद्धावस्था व रुग्णता में प्रसन्नचित्त से सल्लेखना।
6. मृत्यु के विषय में पूर्ण जानकारी।
7. पूर्व वैर के लिए संसार के सब जीवों से क्षमा-याचना।
8. समभाव रखना।
9. राग-द्वेष में अनासक्त रहना।
10. स्वेच्छा से सल्लेखना करना, किसी के दबाव से नहीं।

11. साधक द्वारा प्रशंसा, लोकेषणा, वित्तेषणा, सम्मान तथा लोग मेरे दर्शनार्थ आये - ऐसी अपेक्षाएँ न करना, निरपेक्ष शान्त भाव से रहना अपेक्षित है।

**समाधिमरण/सल्लेखना के योग्य पात्र हैं -**

1. जिसने साधु लिंग स्वीकार किया हो।
2. जो ज्ञान भावना में निरन्तर तत्पर हो।
3. जो शास्त्र निरूपित विनय का पालन करता हो।
4. जिसका मन रत्नत्रय में हो।
5. जिसका चित्त अशुभ परिणामों के प्रवाह से रहित हो।
6. जिसका चित्त वशवर्ती हो।

**सल्लेखना/समाधिमरण का प्रयोजन**

जीवनभर जप-तप करने पर भी अगर मृत्युसमय समाधि धारण न की जावे तो सारा जप-तप उसी तरह वृथा होता है जिस तरह विद्यार्थी पूरे वर्षभर पाठ याद करे और परीक्षा के समय उसे भूल जाये या शस्त्राभ्यासी योद्धा रणक्षेत्र में जाकर कायर बन जाये या कोई दूर देशान्तर से धनोपार्जन करके लाये और उसे गाँव के समीप आकर लुटा बैठे। बिना समाधिमरण के चारित्रवान् जीवन भी फलहीन वृक्ष की तरह निस्सार होता है। इसी को स्वामी समन्तभद्र ने बहुत सुन्दर शब्दों में रत्नकरण्ड श्रावकाचार<sup>5</sup> में कहा है -

**अन्तक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते।**

**तस्मात् यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्॥123॥**

अर्थात् आयु के अन्त में संन्यासपूर्वक मरण होना ही तप का फल है, इसलिए शक्ति के अनुसार समाधिमरण साधने का प्रयत्न करना चाहिए। मृत्यु के समय अगर आत्मा कषायों से चिकनी (सचिक्कण) नहीं होती तो वह अनायास शरीर-त्याग कर देती और उसे मारणांतिक संक्लेश भी विशेष नहीं होता, उसका मानसिक संतुलन ठीक रहता है जिससे स्वेच्छानुसार सद्गति प्राप्त करने में वह समर्थ होती है, और जब सद्गति प्राप्त हो जाती है तो पूर्वोपार्जित दुष्कर्म भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ पाते, और अगर अन्त समय में परिणाम कलुषित हो जाते हैं तो दुर्गति प्राप्त होती है जिसमें पूर्वोपार्जित शुभ कर्मों को भोगने का

अवसर ही नहीं मिलता। इस तरह सारा काता-पीदा कपास हो जाता है, व्यर्थ हो जाता है और दुर्गति की परम्परा बढ़ जाती है। इससे जाना जा सकता है कि समाधिमरण की जीवन में कितनी महत्ता है।

तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च।  
पठितस्य श्रुतस्यापि फलं मृत्युः समाधिना॥16॥

- मृत्यु महोत्सव

अर्थात् तपे हुए तप, पालन किए हुए व्रत और पढ़े हुए शास्त्रों का फल समाधिमरण में ही है, बिना समाधिमरण के ये वृथा हैं।

यहाँ शंका नहीं करनी चाहिए कि - 'जब समाधिमरण से ही सब कुछ होता है तो क्यों जप-तप-चारित्र की आफत मोल ली जाए, मरणसमय समाधि ग्रहण कर लेंगे।' परन्तु ऐसा विचारना ठीक नहीं क्योंकि काय तथा कषाय के कृश करने के लिए जीवनभर तप और चारित्र का अभ्यास इसीलिए किया जाता है कि अन्त समय में भी परिणाम निर्मल रहें, जिससे समाधि ग्रहण करने में आसानी रहे। संभवतः इसीलिए कुन्दकुन्द आचार्य ने सल्लेखना को शिक्षाव्रत में स्थान देने की दूरदर्शिता की है। समाधिमरण और तप-चारित्र में परस्पर कार्य-कारणरूपता है। जब उपसर्ग और अकाल मृत्यु का अवसर उपस्थित हो यथा - सिंहादि क्रूर जन्तुओं का अचानक आक्रमण हो जाना, सोते हुए घर में भयंकर अग्नि लग जाना, महावन में रास्ता भूल जाना, बीच समुद्र में तूफान से नाव डूबना, विषधर सर्प का काट खाना आदि में पूर्वकृत तप-चारित्र का अभ्यास ही काम आता है। सारी जिन्दगी चारित्र में बितानेवाला अगर अन्त समय में असावधान होकर अपने आत्मधर्म से विमुख हो जाए तो उसका दोष तप-चारित्र पर नहीं है, यह तो उसके पुरुषार्थ की हीनता और अभ्यास की कमी है या बुद्धि विकार है, इसे ही तो 'विनाशकाले विपरीत बुद्धि' कहते हैं।

### सल्लेखना का महत्त्व

सल्लेखना से अनन्त संसारी की कारणभूत कषायों का आवेग उपशान्त अथवा क्षीण हो जाता है तथा जन्म-मरण का चक्र बहुत ही कम हो जाता है। आचार्य शिवार्य सल्लेखना का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि 'जो जीव एक ही पर्याय में समाधिपूर्वक मरण करता है वह सात-आठ पर्याय से अधिक संसार में परिभ्रमण नहीं करता।'६ उन्होंने सल्लेखना का महत्त्व बताते हुए यहाँ

तक लिखा है कि 'जो व्यक्ति अत्यन्त भक्ति के साथ सल्लेखनाधारक (क्षपक) के दर्शन-वन्दन-सेवादि के लिए निकट जाता है वह व्यक्ति भी देवगति के सुखों को भोगकर अन्त में उत्तम स्थान (निर्वाण) को प्राप्त करता है।'<sup>7</sup>

आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि भी सल्लेखना के महत्त्व और आवश्यकता को बतलाते हुए लिखते हैं<sup>8</sup> कि मरण किसी को इष्ट नहीं है। जैसे अनेक प्रकार के सोने, चाँदी, बहुमूल्य वस्त्रों आदि का व्यापार करनेवाले किसी भी व्यापारी को अपने घर का विनाश कभी भी इष्ट नहीं होता। यदि कदाचित् उसके विनाश का कोई (अग्नि, बाढ़, राज्यविप्लव आदि) कारण उपस्थित भी हो जाए तो वह उसकी रक्षा करने का पूरा उपाय करता है और जब रक्षा का उपाय सफल होता हुआ नहीं देखता तो घर में रखे हुए उन सोना, चाँदी आदि बहुमूल्य पदार्थों को जैसे-बने-वैसे बचाता है तथा घर को नष्ट होने देता है, उसी तरह व्रतशीलादि गुणरत्नों का संचय करनेवाला व्रती-मुमुक्षु गृहस्थ अथवा साधु भी उन व्रतादि गुणरत्नों के आधारभूत शरीर की जहाँ तक संभव हो सदा रक्षा करता है - उसका विनाश उसे इष्ट नहीं होता। यदि कदाचित् शरीर में रोगादि विनाश का कारण उपस्थित हो जाये तो उनका वह पूरी शान्ति के साथ परिहार करता है। लेकिन जब असाध्य रोग, अशक्य उपद्रव आदि की स्थिति देखता है और शरीर का बचना असंभव समझता है तो आत्मगुणों की रक्षा करता हुआ शरीर को नष्ट होने देता है।

### सल्लेखना कब धारण की जाए

1. जब शरीर अत्यन्त अशक्त हो गया हो।
2. जब शरीर असाध्य रोग से आक्रान्त हो गया हो।
3. जब भयंकर अकाल हो।
4. जब शरीर आवश्यक क्रिया करने में अक्षम हो गया हो।
5. जब नित्य क्रिया, करवट बदलने या उठने-बैठने में अक्षमता हो गयी हो।
6. चारित्र-विनाशक उपसर्ग आने पर।
7. जब भयानक अटवी में व्यक्ति भटक गया हो।

आचार्य समन्तभद्र<sup>9</sup> के अनुसार जब ऐसा उपसर्ग या दुर्भिक्ष आ जाए जिसका प्रतिकार सम्भव नहीं है, ऐसी वृद्धावस्था हो जाए जब धार्मिक क्रियाएँ अच्छी प्रकार सम्पन्न न की जा सकें अथवा ऐसा रोग हो जाए जिसका कोई

उपचार संभव न हो सके तब व्यक्ति को चाहिए कि वह धर्म-भावनापूर्वक शरीर का विसर्जन करे।

भट्ट अकलंकदेव<sup>10</sup> ने सल्लेखना के योग्य समय का निर्देश करते हुए कहा - 'जरा, रोग और इन्द्रियों की विफलता के कारण आवश्यक क्रियाओं की हानि होने पर शास्त्रोक्त विधि से सल्लेखना धारण करनी चाहिए।' शिवार्य भगवती आराधना<sup>11</sup> में कहते हैं - 'अनुकूल बन्धु, मित्र, शत्रु भी यदि चारित्र का विनाश करनेवाले हों अथवा भयंकर दुर्भिक्ष हो अथवा भयंकर जंगल में भटक गया हो तो भक्त सल्लेखना के योग्य होता है।

### सल्लेखना-धारक के लिए समाहित चित्त आवश्यक

चित्त की स्थिरता के साथ आत्मा के स्वभाव में रहना धर्म है। अतः धर्म की स्थिति बनाये रखने के लिए प्रसन्नतापूर्वक देहादि से ममत्व बुद्धि छोड़कर समाहित होना ही समाधिमरण का प्रथम सोपान है। आचार्य अमितगति (द्वितीय)<sup>12</sup> का कथन है -

समाहितं मनो यस्य, वश्यं त्यक्ताशुभास्रवम्।  
उह्यते तेन चारित्रमश्रान्तेनापदूषणम्॥

जिसका मन अशुभ आस्रव के प्रवाह से रहित है तथा अपने वश में है, वह समाहित चित्तवाला होता है। समाहित चित्तवाला ही निर्दोष चारित्र को धारण करता है।

आचार्य शिवकोटि<sup>13</sup> ने - भगवती आराधना में सल्लेखना धारक के लिए समाहित चित्तवाला होना आवश्यक बताया है। उन्होंने समाहित चित्त की महत्ता इस प्रकार प्रतिपादित की है<sup>8</sup> -

चित्तं समाहितं जस्स होज्ज वज्जिद विसोतियं वसियं।  
सो वहदि गिरदिचारं सामण्णधूरं अपरिसंतो॥134॥

अर्थात् जिसका चित्त अशुभ परिणामों के प्रवाह को छोड़ देता है तथा उसे जहाँ लगाया जाए वहीं ठहरा रहता है, जिसने साधु लिंग स्वीकार किया है, जो ज्ञान-भावना में निरन्तर तत्पर है तथा जो शास्त्र-निरूपित विनय का पालन करता है तथा जिसका हृदय निरन्तर रत्नत्रय में लीन हो वह सम्यक् समाधि आराधने योग्य है। ऐसा चित्त समाहित चित्त होता है। आगे कहते हैं कि जिसका

चित्त अशुभ परिणामों के प्रवाह से रहित और वशवर्ती होता है वह चित्त समाहित होता है। वह समाहित चित्त बिना थके निरतिचार चारित्र के भार को धारण करता है।

इसके विपरीत यदि वचन और शरीर से शास्त्रानुसार आचरण करनेवाले साधु का मन भी यदि निश्चल नहीं है तो उसका श्रामण्य नष्ट हो जाता है अतः समाधि के लिए चित्त निश्चल होना आवश्यक है।

चंचल मन की दुष्टता प्रकट करते हुए आचार्य शिवकोटि<sup>14</sup> कहते हैं कि 'बड़े जोर से चलनेवाली हवा की तरह मन भी चहुँ ओर अस्थिर रूप से दौड़ता है और परमाणु द्रव्य की तरह मन दूरवर्ती वस्तु के पास भी शीघ्रता से पहुँच जाता है।' आगे शिवार्य कहते हैं कि जिसका मन चंचल है उसका मन अंधे, बहरे और गूँगे के समान है, क्योंकि कभी-कभी किसी विषय में आसक्त मन निकटवर्ती विषयों को भी नहीं देखता, न ही सुनता है और न ही बोलता है अतः शीघ्र नष्ट हो जाता है, उसका पहाड़ी नदी के प्रवाह की तरह लौटना अशक्य है।<sup>15</sup>

आचार्य शिवकोटि कहते हैं कि जैसे कुमार्ग पर चलते हुए दुष्ट घोड़े को रोकने पर वह मार्ग से गिरा देता है वैसे ही मन भी खोटे मार्ग में गिराता है; तथा जैसे चिकने शरीरवाली मछली को पकड़ना कठिन है वैसे कषाययुक्त मन को रोकना बहुत कठिन है।<sup>16</sup>

आगे कहते हैं कि जिस मन की चेष्टा से जीव हजारों दुःख भोगते हुए भयंकर अंशुभ गतियों से भरे हुए अनन्त संसार में भ्रमण करते हैं<sup>17</sup> उस मन के निवारण करने मात्र से मनुष्य के संसार के सब कारक, राग-द्वेष आदि दोष शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।<sup>18</sup> इसप्रकार जो दुष्ट मन का निवारण करता है और उसे श्रद्धान आदि में स्थिर करता है तथा जो मन को शुभ संकल्पों में ही लगाता है और स्वाध्याय में प्रवृत्त रहता है उसके ही समता होती है।<sup>19</sup> जो भी रत्नत्रय से च्युत होकर रागादि में जानेवाले मन को विचारों के साथ हटाता है और जो मन को निन्दा-गर्हा के द्वारा निर्गृहीत करता है, उसकी निन्दा करता है, मन को अति लज्जित करता है उसके सामण्य (समता भाव) होता है।<sup>20</sup> वश में रहनेवाले दास की तरह जो अपने मन को वश में करता है उसके एकमात्र शुद्ध चिद्रूप

का अवलम्बन करनेवाला, पाप परिणामों से निवृत्त और जिनशासन का अनुगामी श्रामण होता है।<sup>21</sup>

**समाहित चित्त : शिवार्य की दृष्टि में<sup>22</sup>**

जहाँ दृढ़ संकल्प है मैं उसे समाहित चित्त समझता हूँ।  
जहाँ तीव्र तपोबल है मैं उसे समाहित चित्त समझता हूँ।  
ढेरों खुशियाँ और आनन्द ही आनन्द है समाहित चित्त में।  
जहाँ अटूट मनोबल है मैं उसे समाहित चित्त समझता हूँ।।1।।

समाहित चित्त बन्धन नहीं, व्यवस्था है।  
समाहित चित्त संयम की अवस्था है।।  
सीधा मार्ग है सत्यं, शिवं, सुन्दरं का -  
समाहित चित्त अनुशासन की संस्था है।।2।।

समाहित चित्त बंधन नहीं, विकास का सोपान है।  
इसकी सीमाएँ अभिशाप नहीं, जीवन का वरदान है।।  
मनुष्य इससे सहज पार कर लेता है मोक्षमार्ग को।  
समाहित चित्त हुकूमत नहीं, हृदय का संविधान है।।3।।

समाहित चित्त का महत्त्व है पतंग की डोर की तरह।  
समाहित चित्त का महत्त्व है गन्ने की पोरे की तरह।।  
शिवार्य का मानना है जरा गौर फरमाइये -  
समाहित चित्त का महत्त्व है, सागर के छोर की तरह।।4।।

समाहित चित्त-विहीन क्षपक नहीं, शैतान है।  
समाहित चित्त-विहीन क्षपक नहीं, हैवान है।।  
सल्लेखना का पहला पाठ समाहित चित्त से शुरू होता है।  
समाहित चित्तवान क्षपक राही अक्षयधाम होता है।।5।।

समाहित चित्त बन्धन नहीं, विकास है।  
समाहित चित्त अंधकार नहीं, प्रकाश है।।  
समाहित चित्त चित्त की कुंठा, कूड़ा-करकट नहीं -  
समाहित चित्त चंदन की सुवास है।।6।।

समाहित चित्तवाले चाँद-सितारों की पूजा होती है।  
समाहित चित्तवाले कूल-किनारों की पूजा होती है॥  
समाहित चित्त ही जीवन है, बुद्धत्व का प्राण है मित्रो -  
समाहित चित्त में बैठकर ही विश्वास-विचारों की पूजा होती है॥7॥

समाहित चित्त की गरिमा, क्षपक की गरिमा है।  
समाहित चित्त की महिमा, क्षपक की महिमा है॥  
समाहित चित्त है क्षपक की सर्वश्रेष्ठ अटूट साधना -  
समाहित चित्त की मर्यादा अमावस्या नहीं पूर्णिमा है॥8॥

समाहित चित्त सुरक्षा है और क्षपक की शान है।  
समाहित चित्त प्रगति है और सदगुणों की खान है॥  
दोस्तो! जड़ें जमाकर टिकनेवाला दरख्त ही फलता है -  
वस्तुतः समाहित चित्त, अमर जीवन के लिए वरदान है॥9॥

समाहित चित्त क्षपक की सर्वोत्तम निधि है।  
समाहित चित्त सल्लेखना की सर्वोत्तम विधि है।  
सल्लेखना सदा सुरक्षित है, जिसका है समाहित चित्त -  
समाहित चित्त सत्यं, शिवं, सुन्दरं की उपलब्धि है॥10॥

**मरण के भेद** - शिवार्य<sup>23</sup> ने भगवती आराधना में सत्रह प्रकार के मरणों का उल्लेख किया है -

1. आवीचिमरण, 2. तद्भवमरण, 3. अवधिमरण, 4. आदि अन्तमरण,
5. बालमरण (अव्यक्त बाल, व्यवहार बाल, ज्ञान बाल, दर्शन बाल, चारित्रबाल),
6. पण्डितमरण (व्यवहार पण्डित, दर्शन पण्डित, ज्ञान पण्डित, चारित्र पण्डित),
7. आसन्नमरण, 8. बालपण्डितमरण, 9. ससल्यमरण, 10. बलायमरण, 11. वसट्ट मरण (इन्द्रिय वसट्ट मरण, वेदना वसट्ट मरण, कषाय वशार्त मरण, नोकषाय वशार्त मरण),
12. विप्पाणसमरण, 13. गिद्ध पुट्टमरण, 14. प्रायोपगमनमरण,
15. इंगिनीमरण, 16. भक्त प्रत्याख्यानमरण 17. केवलीमरण (पण्डित-पण्डित मरण)।

जैनागम<sup>24</sup> में तीन प्रकार से शरीर का त्याग बताया गया है - 1. च्युत, 2. च्यावित और 3. त्यक्त।

**1. च्युत** : आयु पूर्ण होकर शरीर का स्वतः छूटना ही च्युत-मरण कहलाता है।



2. **च्यावित** : विष-भक्षण, रक्त-क्षय, धातु-क्षय, शस्त्र-घात, संक्लेश, अग्नि-दाह, जल-प्रवेश, गिरि-पतन आदि निमित्त कारणों से शरीर छोड़ा जाता है, वह च्यावित-मरण कहा गया है।

3. **त्यक्त** : रोगादि हो जाने और उनकी असाध्यता तथा मरण की व्यासन्नता ज्ञात होने पर विवेक-सहित संन्यासरूप परिणामों से शरीर छोड़ा जाता है, वह व्यक्त है। इन तीन प्रकार के शरीर-त्यागों में 'त्यक्तरूप शरीर-त्याग' सर्वश्रेष्ठ और उत्तम माना गया है, क्योंकि त्यक्त अवस्था में आत्मा पूर्णतया जाग्रत एवं सावधान रहती है तथा कोई संक्लेश परिणाम नहीं होता। इस त्यक्त शरीर-त्याग को ही समाधिमरण, संन्यास-मरण, पण्डित-मरण, वीर-मरण और सल्लेखना कहा गया है। यह सल्लेखना-मरण (त्यक्त शरीर-त्याग) भी तीन प्रकार का प्रतिपादित किया गया है<sup>25</sup> - 1. भक्तप्रत्याख्यान, 2. इंगिनीमरण और प्रायोपगमन।

(1) **भक्तप्रत्याख्यान** - भक्तप्रत्याख्यान नामक सल्लेखना के साधक को स्व और परकृत दोनों के उपकार की अपेक्षा रहती है। साधक वैयावृत्ति करनेवाला यदि नहीं होगा तो वह ठीक से सल्लेखना की साधना नहीं कर सकता है। अतः इसे एक निर्यापकाचार्य की आवश्यकता पड़ती है। इस पंचम काल में यह भक्तप्रत्याख्यान संथारा ही संभव है, इसका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्टकाल 12 वर्ष का है। शेष मध्यम काल है। भक्तप्रत्याख्यान प्रथमतः दो प्रकार का है - 1. संविचार मरण (जब दीर्घकाल बाद मरण हो तो इसका साधक बलहीन होता है) और 2. अविचार मरण (सहसा उपस्थित होने पर इसका साधक बलहीन होता है।)

(2) **इंगिनीमरण**<sup>26</sup> - इसमें साधक को पर के उपकार (सहायता) की अपेक्षा नहीं रहती। मूत्रादि का निराकरण स्वयं करते हैं। यह सल्लेखना मात्र स्व-सापेक्ष होती है। इंगिनीमरण शब्द का अर्थ है - स्व-अभिप्रायानुसार स्थित होकर प्रवृत्ति करते हुए मरण। यह रूढ़ि शब्दार्थ है।

(3) **प्रायोपगमन**<sup>27</sup> - इसमें स्व और पर दोनों की अपेक्षा नहीं होती। मूत्रादि का निराकरण न तो साधक स्वयं करता है और न दूसरे से कराता है। यह न तो स्वयं शुश्रूषा करता है और न दूसरे से कराता है। प्रायोपगमन को ही पादोपगमन या प्रायोग्यगमन शब्द से भी कहा गया है। भव का अन्त करने योग्य संहनन व संस्थान को प्रायोग्य कहते हैं। पाँवों से चलकर मरण करना पादोपगमन है। यह अन्य मरणों में भी सम्भव होने से यहाँ यह अर्थ रूढ़िवश है।

### मरण के पाँच प्रकार

आचार्य शिवार्य ने सत्रह प्रकार के मरणों का उल्लेख करते हुए उनमें विशिष्ट पाँच मरणों को इस प्रकार कहा है<sup>28</sup> -

1. बाल-बाल-मरण, 2. बाल-मरण, 3. बाल-पण्डित-मरण, 4. पण्डित-मरण, 5. पण्डित-पण्डित-मरण। ये इस प्रकार हैं - मिथ्यादृष्टि जीवों का मरण 'बाल-बाल-मरण' है।

असंयत सम्यग्दृष्टि का मरण 'बाल-मरण' कहलाता है।

देशव्रती श्रावक के मरण को 'बाल-पण्डित-मरण' कहते हैं। चारों आराधनाओं से युक्त निर्गन्थ मुनियों के मरण का नाम 'पण्डित-मरण' है तथा

केवलज्ञानी भगवान की निर्वाणोपलब्धि 'पण्डित-पण्डित-मरण' कहलाती है।

### सल्लेखना का फल

सल्लेखना-धारक धर्म का पूर्ण अनुभव और प्राप्ति करने के कारण नियम से निःश्रेयस और अभ्युदय प्राप्त करता है। स्वामी समन्तभद्र सल्लेखना का फल बतलाते हुए लिखते हैं कि 'उत्तम सल्लेखना करनेवाला धर्मरूपी अमृत को पान करने के कारण समस्त दुःखों से रहित होता हुआ निःश्रेयस और अभ्युदय के अपरिमित सुखों को प्राप्त करता है।'

विद्वद्भार पं. आशाधरजी भी कहते हैं कि 'जिस महापुरुष ने संसार-परम्परा के नाशक समाधिमरण को धारण किया है उसने धर्मरूपी महान निधि को परभव में जाने के लिए साथ ले लिया है। जिससे वह उसी तरह सुखी रहे जिस प्रकार एक ग्राम से दूसरे ग्राम को जाने वाला व्यक्ति पास में पर्याप्त पाथेय रखने पर निराकुल रहता है। इस जीव ने अनन्त बार मरण किया, किन्तु समाधि-सहित पुण्यमरण कभी नहीं किया, जो सौभाग्य एवं पुण्योदय से अब प्राप्त हुआ है। सर्वज्ञदेव ने इस समाधि-सहित पुण्य-मरण की बड़ी प्रशंसा की है क्योंकि समाधिपूर्वक मरण करनेवाले महान आत्मा निश्चय से संसार-रूपी पिंजरे को तोड़ देता है, उसे फिर संसार के बंधन में नहीं रहना पड़ता है।'

1. सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना। कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापनक्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना। - सर्वार्थसिद्धि, 7-22
2. उपसर्गे दुर्भिक्षे, जरसिरूजायां च निःप्रतिकारे।  
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥122॥ - रत्नकरण्ड श्रावकाचार

3. मारणान्तिकी सल्लेखना जोषिता - त.स. 7-22
4. भट्ट अकलंकदेव, तत्त्वार्थराजवार्तिक, 7.22
5. समन्तभद्राचार्य, रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लोक - 123
6. एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो।  
ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तट्टुभवे पमोत्तूण॥681॥ - भगवती आराधना
7. सल्लेहणाए मूलं जो वच्चइ तिच्चभत्तिरायेण।  
भोत्तूण य देवसुहं सो पावइ उत्तमं ठाणं॥680॥ - भगवती आराधना
8. मरणस्यानिष्टत्वात्.....सर्वार्थसिद्धि, 7-22
9. (क) तत्त्वार्थवार्तिक, 7.22.21  
(ख) आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक 122
10. भट्ट अकलंकदेव
11. शिवार्य, भगवती आराधना, श्लोक 71 एवं 72
12. मरणकण्डिका, 5.139
13. चित्तं समाहिदं जस्स होज्ज वज्जिदविसोत्तियं वसियं।  
सो वहदि गिरदिचारं सामण्णधुरं अपरिसंतो॥134॥ - भगवती आराधना
14. वादुब्भामो व मणो परिधावइ अट्टिदं तह समंता।  
सिग्घं च जाइ दूरंपि मणो परमाणुद्रव्वं वा॥136॥ - भगवती आराधना
15. अंघलयबहिरमूवो व्व मणो लहुमेव विप्पणासेइ।  
दुक्खो य पडिणियत्तेदुं जो गिरिसरिदसोदं वा॥137॥ - भगवती आराधना
16. ततो दुक्खे पंथे पाडेदुं दुट्टुओ जहा अस्सो।  
वीलणमच्छेव्व मणो गिग्घेतुं दुक्करो धणिदं॥138॥ - भगवती आराधना
17. जस्स य कदेण जीवा संसारमणंतयं परिभमंति।  
भीमासुहगदिबहुलं दुक्खसहस्साणि पावंता॥139॥ - भगवती आराधना
18. जम्हि य वारिदमेत्ते सव्वे संसारकारया दोसा।  
णासंति रागदोसादिया हु सजो मणुस्सस्स॥140॥ - भगवती आराधना
19. इय दुट्ठयं मणं जो वारेदि पडिट्टुवेदि य अकंपं।  
सुहसंकप्पपयारं च कुणदि सज्जयसण्णिहिदं॥141॥ - भगवती आराधना
20. जो विय विणिप्पउंतं मणं गियत्तेदि सह विचारेण।  
णिग्गहदी य मणं जो करेदि अदिलज्जियं च मणं॥142॥ - भगवती आराधना
21. दासं व मणं अवसं सवसं जा कुणदि तस्स सामण्णं।  
हादि समाहिदमं विसोत्तियं च जिणसासणाणुदं॥143॥ - भगवती आराधना
22. शिवार्य, भगवती आराधना, गाथा 134-142

23. भगवती आराधना, गाथा 25 से 30 एवं विजयोदया टीका, गाथा सं. 25
24. नेमिचन्द्राचार्य, गोम्मटसार, कर्मकाण्ड गाथा 56-58
25. (क) नेमिचन्द्राचार्य, गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा 59  
(ख) भगवती आराधना, गाथा 29
26. नेमिचन्द्राचार्य गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा 61
27. नेमिचन्द्राचार्य गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा 61
28. भगवती आराधना, गाथा 26

निदेशक, जैन अनुशीलन केन्द्र  
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

□ □ □

---

\* यह लेख जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर से प्रकाशित संस्करण पर आधारित है।

## जो जारिसीय मेत्ती केरइ

जो जारिसीय मेत्ती केरइ सो होइ वारिसो चेव।345।

दुज्जणसंसर्गीए पजहदि णियगं गुणं खु सुजणो वि।  
सीयलभावं उदयं जह पजहदि अग्गिजोएण।346।

जहदि य णिययं दोसं पि दुज्जणो सुयणवइयरगुणेण।352।

जइ भाविज्जइ गंधेण मट्टिया सुरभिणा व इदरेण।  
किह जोएण ण होज्जो परगुणपरिभाविओ पुरिसो।344।

- आचार्य शिवार्य

भगवती आराधना

- जो जिस प्रकार की वस्तु से मैत्री करता है वह वैसा ही हो जाता है।345।

दुष्टजन के संसर्ग से सज्जन भी अपना गुण छोड़ देता है। जैसे - आग के सम्बन्ध से जल भी अपने शीतल स्वभाव को छोड़ देता है।346।

सज्जनों की संगति से दुर्जन अपना दोष भी छोड़ देता है।352।

(ठीक ही है) यदि सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध के संसर्ग से मिट्टी भी सुगन्धित अथवा दुर्गन्धयुक्त हो जाती है तो संसर्ग से समीपस्थ या सहचर आदि के गुणों से तन्मय क्यों नहीं होगा।344।

अनु. - पण्डित कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

## भगवती आराधना में प्रतिपादित मरण-समाधि-सल्लेखना

- डॉ. कस्तूरचन्द्र 'सुमन'



जैसे संसार में संसारी प्राणियों को शुभ-अशुभ, सुख-दुःख, योग-वियोग प्राप्त होते देखे जाते हैं, ऐसे ही यहाँ जीवन के साथ मरण का सद्भाव/अस्तित्व भी पाया जाता है। जब तक जन्म से छुटकारा नहीं मिलता जीव को मरना ही पड़ता है।

जीव आयु के वश से ही जन्मता है, जीवित रहता है और पूर्व आयु के नाश होने पर मरता है। कहा भी है -

आउगवसेण जीवो जायदि जीवदि य आउगस्सुदये।

अण्णाउगोदये वा मरदि य पुव्वाउणासे वा॥ पृ. 50

प्राण-ग्रहण करना जन्म और प्राणों को धारण करना जीवन तथा प्राणों का परित्याग करना मरण कहा है।

प्राणग्रहणं जन्म, प्राणानां धारणं जीवितं, प्राणपरित्यागो च मरणं (पृ. 49)।

प्राण दस कहे हैं -

प्राणां दशास्य सन्तीति। महापुराण 24.105

पंचेन्द्रिय, तीन बल, उच्छ्वास और आयु ये द्रव्य-प्राण हैं (पृ. 49)। शरीर का दूसरा नाम भव है। यह भव आयुर्कर्म के द्वारा धारण किया जाता है-

देहो भवोत्ति वुच्चदि धारिज्जइ आउगेण य भवो सो। पृ. 49

जीव सत्रह प्रकार से मरण करता है। उनके नाम हैं - (1) आवीचिमरण, (2) तद्भवमरण, (3) अवधिमरण, (4) आदि-अन्तमरण, (5) बालमरण, (6) पंडितमरण, (7) ओसण्णमरण (अवसन्नमरण), (8) बालपंडितमरण, (9) ससल्लमरण (सशल्यमरण), (10) बलायमरण (पलायमरण), (11) वसट्टमरण (दशार्तमरण), (12) विप्पाणमरण (विप्राणमरण), (13) गिद्धपुट्टमरण (गृध्रपृष्ठमरण), (14) भक्तप्रत्याख्यानमरण, (15) प्रायोपगमनमरण, (16) इंगिनीमरण और (17) केवलिमरण (पृ. 51)।

भगवती-आराधना के रचयिता आचार्य श्री शिवार्य की जीव-हितैषी भावना ने उन्हें मरण-संज्ञाओं के पश्चात् उनके स्वरूप को समझाने के लिए भी प्रेरित किया है। 'अन्त भला सो सब भला' इस उक्ति के अनुसार उन्होंने जीवों की कर्म-स्थिति को ध्यान में रखते हुए मरण-संबंधी गुण और दोषों को स्पष्ट किया है। उनका चिन्तन सराहनीय रहा है क्योंकि जाने बिना वस्तु के गुण-ग्रहण और दोष त्यागे नहीं जाते। कहा भी है - "बिन जानें ते दोष-गुनन को कैसे तजिये-गहिये"।

अब हम मरण के भेद-स्वरूपों को जानें-समझें -

(1) आवीचिमरण - कर्मपुद्गलों के रस का नाम अनुभव है। यह हानि-वृद्धि के रूप से वीचि अर्थात् जल की लहरों के समान छह प्रकार से घटता-बढ़ता रहता है। कर्मों की इस स्थिति का प्रलय हो जाना, अन्त हो जाना अपेक्षित है। इसी प्रक्रिया का नाम है आवीचिमरण -

“कर्मपुद्गलानां रसः अनुभवः। स च परमाणुषु षोढा वृद्धिहानिरूपेण वीचय इव क्रमेणावस्थितस्य प्रलयोऽनु-भवावीचिमरणं” (पृ. 53)।

(2) तद्भवमरण - 'पूर्वभवविगमनं तद्भवमरणं' अर्थात् पूर्ववर्ती भवों का विनाश तद्भवमरण है। यह संसारी जीव करता आ रहा है, इसी का अभाव जीवन का लक्ष्य है (पृ. 53)।

(3) अवधिमरण - वर्तमान जैसा मरण प्राप्त करना अवधिमरण है। अर्थात् वर्तमान पर्याय में जैसा मरण प्राप्त करता है वैसा ही मरण अगली पर्याय

में भी प्राप्त करना अवधिमरण है। इसमें वर्तमान आयु के उदय के समान एक-देश बंध करने को देशावधिमरण कहा है तथा प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेशों के अनुसार वर्तमान में उदय में आ रही आयु का पुनः आयुबंध करना सर्वावधिमरण है। इस प्रकार अवधिमरण के ये दो भेद कहे हैं। (पृ. 53)

#### (4) आदि-अन्तमरण -

“प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशैर्यथाभूतैःसाम्पृतमुपैति मृतिं तथाभूतां यदि सर्वतो देशतो वा नोपैति तदाद्यन्तमरणं”

अर्थात् प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेश द्वारा एकदेश या सर्वदेश मरण को प्राप्त नहीं होना आद्यन्तमरण है। (पृ. 53)

(5) बालमरण - बालमरण के पाँच भेद कहे हैं - (1) अव्यक्तबाल (2) व्यवहारबाल (3) ज्ञानबाल (4) दर्शनबाल (5) चारित्रबाल। इनमें जो धर्म, अर्थ, काम को नहीं जानता और न इनके आचरण में जिसका शरीर ही समर्थ है वह ‘अव्यक्तबालमरण’ है। लोक, वेद और समय सम्बन्धी व्यवहार को नहीं जाननेवाला शिशु के समान व्यवहारी ‘व्यवहारबालमरण’ है। वस्तु को यथार्थ रूप से ग्रहण करनेवाले ज्ञान से रहित ‘ज्ञानबालमरण’ है, अर्थ-तत्त्व-श्रद्धान से रहित ‘दर्शनबालमरण’ और चारित्र-पालन से रहित ‘चारित्रबालमरण’ कहे हैं।

यहाँ दर्शनबालमरण दो प्रकार का है - प्रथम स्वेच्छापूर्वक दूसरा अनिच्छापूर्वक। इनमें अग्नि, धूम, शस्त्र, विष, जल, पर्वत, श्वास-निरोध, अतिशीत, अतिगर्मी, रस्सी, भूख, प्यास, जीभ-उखाड़ने और प्रकृति विरुद्ध आहार के सेवन से मरना ‘इच्छापूर्वक दर्शनबालमरण’ मरण है, किन्तु किसी निमित्तवश जीवन त्यागने की इच्छा होने पर भी अन्तरंग में जीने की इच्छा रहते हुए काल या अकाल में अध्यवसानादि से हुआ मरण ‘अनिच्छापूर्वक दर्शनबालमरण’ कहा है। ऐसा मरण विषयासक्त, अज्ञानी, ऋद्धि, रस और सुख के अभिलाषी करते हैं। ये बालमरण तीव्र पापकर्मों के आस्रवद्वार हैं। जन्म-जरा-मरण के दुःखों को लानेवाले हैं (पृ. 54)। अविरत सम्यग्दृष्टि का बालमरण तथा मिथ्यादृष्टि का बालबालमरण कहा गया है (गाथा 29, पृ. 65)।

(6) पण्डितमरण - इसके चार भेद हैं। इनमें लोक, वेद, समय के व्यवहार में अथवा अनेक शास्त्रों के ज्ञाता, सेवा आदि बौद्धिक गुणों से युक्त को ‘व्यवहारपण्डितमरण’ कहा है। क्षायिक, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन से युक्त को



‘दर्शनपण्डितमरण’, मति आदि पाँच प्रकार के सम्यग्ज्ञान रूप से परिणत ‘ज्ञानपण्डितमरण’ तथा किसी एक चारित्र के पालक को ‘चारित्रपण्डितमरण’ संज्ञा दी है। दर्शनपण्डितमरण - नरक में, भवनवासी देवों में, वैमानिक देवों में, ज्योतिष्क देवों में, व्यंतर देवों में और द्वीप समुद्रों में होता है। ज्ञानपण्डितमरण भी इन्हीं में होता है किन्तु ‘केवलज्ञान, मनःपर्यायज्ञान पण्डितमरण’ मनुष्यलोक में ही होता है (पृ. 55)।

(7) **ओसणमरण** - निर्वाणमार्गी संयमी जो संघ से रहित है, या जिसे संघ से निकाल दिया गया है, उसके मरण को ‘ओसणमरण’ (अवसन्नमरण) कहा है। पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील और संसक्त ओसण संज्ञक है। कहा भी है -

पासत्थो सच्छंदो कुशील संसक्त होंति ओसण्णा।  
जं सिद्धिपच्छिदादो ओहीणा साधु सत्थादो।।

जो साधु ऋद्धिप्रेमी, रसप्रेमी, दुःखों से भीत, दुःखों से कातर, कषाय-संलग्न, आहारादि के आधीन, पापवर्द्धक, शास्त्राभ्यासी, तेरह क्रियाओं में आलसी, संक्लेषित चित्तवान, भोजन और उपकरणों से प्रतिबद्ध, निमित्तशास्त्र, मंत्र, औषधि आदि से आजीवी, गुणों से हीन, गुप्तियों और समितियों में उदासीन, संवेग भावों में मंद, दशविध धर्म से उदासीन, सदोष चारित्रवाले होते हैं उन मुनियों को अवसन्न कहते हैं (पृ. 55)।

(8) **बालपण्डितमरण** - सम्यग्दृष्टि संयतासंयत का ऐसा मरण कहा है, क्योंकि वह बाल और पण्डित दोनों में होता है। यह मरण गर्भज और पर्याप्तक तिर्यचों तथा मनुष्यों में होता है।

(9) **सशल्यमरण** - इसके दो भेद हैं - द्रव्यशल्यमरण और भावशल्यमरण। इनमें मिथ्यादर्शन, माया और निदान इन शल्यों का जो कर्म है वह द्रव्यशल्य है। इनमें आगामी काल में यही होना चाहिए - मन के ऐसे उपयोग को निदान कहा है। असंज्ञियों में निदान नहीं होता। मोक्षमार्ग को दोष लगाना और मिथ्यामार्ग का कथन करना मिथ्यादर्शनशल्य है। पार्श्वस्थ साधु के रूप में आलोचना किये बिना मरना मायाशल्यमरण है (पृ. 56-57)।

(10) **बलायमरण** - अपने आचार-विचार में आदरभाव नहीं रखते हुए मुनि का मरण बलायमरण है। ओसणमरण और सशल्यमरण में यह मरण होता है (पृ. 57)।

(11) **वसट्टमरण** - आर्त और रौद्रध्यानपूर्वक मरण को वसट्टमरण कहा है। इसके चार भेद हैं - इन्द्रियवसट्टमरण, वेदनावसट्टमरण, कषायवसट्टमरण और नोकषायवसट्टमरण (पृ. 57-59)।

(12-13) **विप्पाणमरण एवं गिद्धपुट्टमरण** - इनका निषेध और अनुज्ञा दोनों नहीं हैं। दुर्भिक्ष में, भयानक जंगल में, पूर्व शत्रु या दुष्ट राजा अथवा चोर के भय से, तिर्यचकृत उपसर्ग से, ब्रह्मचर्यव्रत का विनाश आदि दोष चारित्र में होने पर संसार से विरक्त और पाप से भयभीत साधु कर्मों का उदय जानकर उसे सहने में असमर्थ होने से उससे निकलने का उपाय न होने पर पापभीरु विराधनापूर्वक मरण से डरता हुआ सोचता है यदि संयम से भ्रष्ट होता हूँ तो संयम के साथ दर्शन से भी भ्रष्ट होता हूँ। ऐसा विचार कर वह साधु किसी निदान के बिना अर्हन्त के निकट आलोचना-प्रायश्चित्त लेकर शुभलेश्यापूर्वक श्वासोच्छ्वास का निरोध करता है इसे 'विप्पाणमरण' कहा है।

शस्त्र-ग्रहण से होनेवाले मरण को 'गिद्धपुट्टमरण' संज्ञा दी गयी है (पृ. 60-61)।

मरण के सत्रह भेदों में तेरह को समझाकर अन्य पाँच मरण - पण्डितपण्डितमरण, पण्डितमरण, बालपण्डितमरण, बालमरण, बालबालमरण समझाये गये हैं। इनके लिए निम्नलिखित गाथा द्रष्टव्य है -

**पंडिदपंडिदमरणं पंडिदयं बालपंडिदं चैव।**

**बालमरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च॥26॥**

आगम के अनुसार जिसका पाण्डित्य ज्ञान, दर्शन और चारित्र में अतिशयशाली है उसे पण्डित-पण्डित कहा है। पाण्डित्य के प्रकर्ष से रहित पाण्डित्य वाले को पण्डित, पूर्व में व्याख्यान बालपन और पाण्डित्य दोनों जिसमें होते हैं वह बालपण्डित, जिसमें चारों प्रकार का पाण्डित्य नहीं है वह बाल है और जो सबसे हीन है वह बाल-बाल है। पृ. 61

पण्डितपण्डितमरण, क्षीण कषाय और अयोगकेवली का कहा है -

**पंडितपंडितमरणे खीणकसाया मरंति केवलिणा॥27॥**

विरताविरत श्रावक का मरण बालपण्डितमरण है -

**विरदाविरदा जीवा मरंति तदियेण मरणेण॥27॥**

**पण्डितमरण** - इसके तीन भेद बताये हैं - पादोपगमन अथवा प्रायोपगमनमरण, भक्तप्रतिज्ञा (भक्तप्रत्याख्यान) और इंगिनीमरण। निम्नांकित गाथा द्रष्टव्य है -

**पायोपगमणमरणं भक्तपङ्कणा य इंगिणी चेव।  
तिविहं पंडितमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स॥28॥**

जिनदेव पंडितपंडितमरण, पंडितमरण तथा बालपंडितमरण की प्रशंसा करते हैं। गाथा है -

**पंडियपंडियमरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव।  
एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसति॥ पृ. 64 .**

(1) प्रायोपगमन/प्रायोग्यगमनमरण - प्रायोग्य शब्द से संसार का अन्त करने योग्य संहनन और संस्थान कहे जाते हैं। उससे गमन अर्थात् प्राप्ति को प्रायोग्यगमन कहा है। इसके कारण होनेवाले मरण को प्रायोग्यगमनमरण संज्ञा दी गई है (पृ. 65)।

प्रायोपगमन विधि (पृ. 883) - इसमें तृणों के संधारे का - तृणशय्या का निषेध है क्योंकि स्वयं अपने से और दूसरे से भी सर्वप्रकार का प्रतीकार करना-कराना निषिद्ध है। कहा है -

**णवरिं तणसंधारो पाओवगदस्स होदि पडिसिद्धो।  
आदपरपओगेण य पडिसिद्धं सव्वपरियम्मं॥2058॥**

(2) भक्तपङ्कणा -

भज्यते सेव्यते इति भक्तं, तस्य पङ्कणा - त्यागो भक्तपङ्कणा। इतरयोरपि भक्तप्रत्याख्यानसंभवेऽपि रूढिवंशान्मरण विशेषे एव शब्दोऽयं प्रवर्तते (पृ. 65)

अर्थात् जो सेवन किया जाए वह भक्त (भोजन आदि) है। उसकी 'पङ्कणा' अर्थात् त्याग 'भक्त पङ्कणा' है। अपर शब्द भक्तप्रत्याख्यान के रहते हुए भी रूढिवंश मरण अर्थ में 'भक्तपङ्कणा' शब्द व्यवहृत हुआ है।

**स्वपरसंपाद्यप्रतीकारापेक्षः भक्त प्रत्याख्यानविधिः**

अर्थात् भक्तप्रत्याख्यान में स्वयं अपनी सेवा कर सकता है और दूसरों से भी करा सकता है (पृ. 883)। इसका समय बारह वर्ष कहा है (गाथा 254)।

### (3) इंगिणीमरण -

इंगिनी शब्देन इंगितमात्मनो भव्यते स्वाभिप्रायानुसारेण स्थित्वा प्रवर्त्यमानं मरणं इंगिणीमरणं (पृ. 65) अर्थात् इंगिणी शब्द से आत्मा का संकेत कहा जाता है। अतः अपने अभिप्राय के अनुसार रहकर होनेवाले मरण 'इंगिणीमरण' हैं।

इसकी विधि में कहा गया है कि इंगिनीमरण की साधना का निश्चय कर साधु तप की भावना करे तथा शरीर और कषायों को कृश करे (गा. 2026)। रत्नत्रय में लगे दोषों की आलोचना करे तथा आचार्य को सभी दोषों से अवगत करा दे। मुनिसंघ से निकलकर एकाकी आश्रय ले (गा. 2027-2029)। आहार का विकल्प त्याग दे। परीषह जीते। धर्मध्यान करे। (गा. 2033-34)। त्रिगुप्ति का पालन करे। कषाय जीते (गा. 2044)। ऋद्धियों का सेवन नहीं करे (गा. 2052)। ऐसा जीव मरकर वैमानिकदेव होता है (गा. 2055)।

भक्त-प्रत्याख्यान मरण के दो भेद कहे हैं - सविचार भक्त-प्रत्याख्यान मरण और अविचार भक्त-प्रत्याख्यान मरण। सहसा मरण उपस्थित होने पर अविचार तथा सहसा मरण नहीं होने पर सविचार भक्त-प्रत्याख्यान मरण होता है (गाथा 64, पृ. 104)।

भक्त-प्रत्याख्यान मरण के लिए निम्न परिस्थितियाँ कही हैं - दुष्प्रसाध्यव्याधि, श्रामण्य के प्रतिकूल वृद्धावस्था, देव-मनुष्य-तिर्यच कृत उपसर्ग, अनुकूल या प्रतिकूल चारित्र-विनाशक बंधु, मित्र, शत्रु, भयंकर दुर्भिक्ष, भयंकर अटवी में भ्रमित, नेत्र-श्रोत्र दुर्बल हों, जंघाबल से हीन, विहार करने में असमर्थ तथा अन्य प्रबल कारण उपस्थित होने पर विरत अथवा अविरत भक्तप्रत्याख्यान मरण के योग्य होता है, किन्तु जिसका चारित्र अतिचाररहित पाला जा रहा है, समाधिमरण कराने में सहायक निर्यापक सुलभ हैं, दुर्भिक्ष का भय नहीं है, तब वह भय के नहीं रहने पर भक्तप्रत्याख्यान मरण के योग्य नहीं है। ऐसे में वह यदि मरण की प्रार्थना करता है तो मुनिधर्म से विरत ही होता है (गाथा 70 से 75)।

मरण के सत्रह भेदों में तेरह प्रकार के मरण का स्वरूप-कथन करने के पश्चात् शेष चार प्रकार के मरण को पंडितमरण के भेद बताकर उन्हें समझाया गया है। इस प्रकार मरण-प्रक्रिया समझाकर जीव को मरण सुधारकर आत्मकल्याण का उपाय भी दर्शाया गया है। वह उपाय है समाधि।

## समाधि

यह शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है। वे हैं सम+आधि। इनमें आधि का अर्थ है मानसिक पीड़ा, वेदना, चिन्ता। सम का अर्थ है समता भाव - सुख और दुःख में समान भाव। व्याधि का अर्थ है शारीरिक कष्ट, देह-चिन्ता। आधि-व्याधियों में चित्त स्थिर रखना अथवा पंचपरमेष्ठियों का स्मरण करना। महापुराणकार ने लिखा भी है -

यत्सम्यक्परिणामेषु चित्तस्याधानमञ्जसा।

स समाधिरिति ज्ञेयः स्मृतिर्वा परमेष्ठिनाम्॥21.226॥

समाधिपूर्वक शरीर त्यागकर निदान के दोष से नारायण आदि पद की प्राप्ति होती है। पद्मपुराण में कहा भी है -

ते समाधिं समासाद्य कृत्वा देहविसर्जनम्।

वासुदेवादितां यान्ति निदानकृतदोषतः॥2.189॥

समाधिपूर्वक मरण करनेवाला जीव अधिक से अधिक आठ भवों में रत्नत्रय का पालनकर अन्त में निर्ग्रन्थ हो सिद्धिपद पाता है। पद्मपुराणकार ने लिखा भी है -

भवानामेवमष्टानामन्तः कृत्वानुवर्तनम्।

रत्नत्रयस्य निर्ग्रन्थो भूत्वा सिद्धिं समश्नुते॥14.204॥

इन उल्लेखों के अनुसार भगवती आराधना के रचयिता ने समाधि के साधक में निम्न गुण अपेक्षित बताये हैं - योग्य हो, साधुलिंग स्वीकृत किया हो, ज्ञानभावना में तत्पर हो, शास्त्र-निरूपित विनयवान हो और रत्नत्रय में मन संलग्न हो -

योग्यस्य गृहीतलिंगस्य, ज्ञानभावनोद्यतस्य।

ज्ञाननिरूपते विनये वर्तमानस्य, रत्नत्रये मानसः इति॥ पृ.173

चित्त का अशुभ परिणामों के प्रवाह से रहित और वशवर्ती होना भी आवश्यक है क्योंकि ऐसा समाहित चित्त ही बिना थके निरतिचार चारित्र के भार को धारण करता है। कहा भी है -

चित्तं समाहिदं जस्स होज्जवज्जिदविसोत्तियं वसियं।

सो वहदि णिरतिचारं सामण्णधुरं अपरिसन्ते॥134॥

यहाँ चित्त का तात्पर्य भावमन से है। वह नोइन्द्रियमति है। यह मति नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण के क्षयोपशमवाली आत्मा के होती है। जैसे राग, कोप, भय और दुःखादि परिणाम नट के आधीन होते हैं, इसी प्रकार नोइन्द्रियमति भी आत्मा की इच्छा से किसी एक विषय में रुकी हुई अनुभव में आती है। अर्थात् भावमन आत्मा की इच्छानुसार किसी भी विषय में लीन हो जाता है। समण वही है जिसका चित्त राग-द्वेष से अबाधित हो (पृ. 174)। वचन और शरीर से आचरणी साधु का मन यदि निश्चल नहीं तो श्रामण्य नष्ट हो जाता है -

**कायेण य वायाए जदि वि जधुत्तं चरदि भिक्खु॥135॥**

शुभसंकल्पों और स्वाध्याय में मन लगाने से समताभाव होता है -

**सुह संकप्पपयारं च कुणदि सज्झायसण्णिहिदं॥141॥**

समाधिमरण के इच्छुक को अनियतवास करना उचित कहा है। दर्शनविशुद्धि, स्थितिकरण, भावना, अतिशय अर्थों में निपुणता और क्षेत्र का अन्वेषण जैसे गुण अनियतवास में समाहित कहे हैं -

**दंसणसोधी ठिदिकरणभावना अदिसयत्तकुसलत्तं।**

**खेत्तपरिमग्गणावि य अणियदवासे गुणा होंति॥144॥**

समाधि का इच्छुक बारह वर्ष-पर्यन्त निर्यापक की खोज करता है -

**एकं व दो व तिण्णि य वारसवरिसाणि वा अपरिदंतो।**

**णिज्जयवयमणुण्णादं गवेसदि समाधिकामो दु॥1404॥**

**सल्लेखनां**

समाधिमरण का ही अपर नाम सल्लेखना है। इसके दो भेद हैं - आभ्यन्तर और बाह्य। कषायों का कृष करना आभ्यन्तर सल्लेखना और शरीर को कृश करना बाह्य सल्लेखना है। कहा भी है -

**सल्लेहणा य दुविहा अब्भंतरिया य बाहिरा चेव।**

**अब्भंतरा कसायेसु बाहिरा होदि हु सरीरे॥208॥**

बाह्य सल्लेखनार्थ सर्व रसों का त्याग कर रूखे-नीरस आहार से शरीर क्रम से कृश किया जाता है (गाथा 209)। इसके लिए बाह्य तप (अनशन,

अवमौदर्य, रसत्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, कायक्लेश और विविक्तशय्या) धारण किये जाते हैं (गाथा 210)। इनमें अनशन के प्रसंग में अद्धानशन शब्द चतुर्थ आदि से लेकर छहमास पर्यन्त अनशन के समस्त भेदों के लिए ग्रहण किया गया है (गाथा 212)। पुरुष की उदरपूर्ति के लिए बत्तीस ग्रास और नारियों के कुक्षिपूरक आहार का प्रमाण अट्ठाइस ग्रास कहा है (गाथा 213)। सल्लेखना काल में दूध आदि सबका या यथायोग्य दो-तीन-चार रसों का त्याग, रस-परित्याग है (गाथा 217)। आदरपूर्वक यथाविधि सभी तप अंगीकार करते हुए दोषरहित वसति में रहें। शुद्ध आहार लेकर ही तप करें।

क्रम से आहार कम करते हुए शरीर कृश किया जाता है (गाथा.249)। दो, तीन, चार दिन और पाँच दिन के उपवास के बाद परिमित और लघु आहार आचाम्ल किया जाता है। आचाम्ल (कांजी) का आहार उत्कृष्ट कहा गया है (गा. 253)। भक्तप्रत्याख्यान का काल बारह वर्ष कहा है। इसमें कायक्लेश द्वारा चार वर्ष, दूध आदि रस त्याग कर फिर चार वर्ष, पश्चात् आचाम्ल और निर्विकृति के द्वारा दो वर्ष व्यतीत किये जाते हैं। एक वर्ष आचाम्ल के द्वारा और शेष एक वर्ष में छह मास मध्यम तप के द्वारा और शेष छह मास उत्कृष्ट तप के द्वारा बिताता है (गाथा 254-256)।

क्षेत्र, काल और अपनी शारीरिक प्रकृति को ध्यान में रखकर ही आहार और तप करना कहा है जिससे कि वात-पित्त-कफ क्षुब्ध न हों। (गाथा 257) क्षपक शरीर-सल्लेखना की विधि करते हुए परिणामों की विशुद्धि क्षणभर के लिए भी नहीं छोड़े। (गाथा 258) परिणाम-विशुद्धि के लिए कषाय-सल्लेखना कही है। (गाथा 261)

### सल्लेखना धारक

ये दो प्रकार के होते हैं - आचार्य और साधु। यदि आचार्य सल्लेखना के भाव करता है तो उसे अपनी आयु का विचार कर शुभ दिन, करण, नक्षत्र, लग्न और देश में, गुणों में अपने समान भिक्षुक का विचार कर संघ को कहता है कि 'यह तुम्हारा आचार्य है' तथा नवीन आचार्य से कहते हैं कि 'आप गण

---

आचाम्ल (कांजी) = लघु आहार, चावल का माँड (पानी जिसमें चावल उबाले गए)।

का पालन करें' (गाथा 273-277)। आचार्य नवीन आचार्य से मन, वचन, काय से क्षमा याचना करते हैं (गाथा 278)।

नये आचार्य को हितकारी शिक्षा भी देते हैं कि शील और गुणों से आगे बढ़ना (गाथा 284)। राजाविहीन या दुष्ट राजा का क्षेत्र त्याग दें (गाथा 296)। जहाँ शिष्य न बनें वह क्षेत्र भी त्याज्य है (गाथा 297)। आग और आर्याओं का संसर्ग वर्जनीय है (गाथा 332)।

शरीर विनाशीक है। उसकी रक्षा संभव नहीं है। यश की रक्षा करने योग्य है क्योंकि वह नष्ट नहीं होता। शरीर के छूट जाने पर भी मनुष्य यशरूपी शरीर से जीवित रहता है। कहा भी है -

**काये पातिनी का रक्षा यशो रक्ष्यमपाति यत्।**

**नरः पतितकायोऽपि यशःकायेन धार्यते॥ पृ.291**

गुरु का उपदेश सुनकर संघ कहता है - हे आचार्य! आपके ये वचन हमारे लिए मंगलकारी होने से स्वीकार हैं (गाथा 378)। इस गण से पूछकर आचार्य आराधना (सल्लेखना) के लिए दूसरे गण में जाने का विचार स्थिर करते हैं (गाथा 386)। समाधि का इच्छुक यति बारह वर्ष पर्यन्त जिनागम सम्मत निर्यापक को खोजता है (गाथा 404)। अन्त में निर्यापक आचार्य पाकर प्रसन्न मन से सल्लेखनापूर्वक क्षमक अपने जीवन को सार्थक करता है। निर्यापकाचार्य भी श्रम की परवाह न कर क्षपक की सभी प्रकार से सेवा करते हैं (गाथा 459)।

सल्लेखना में देह और कषाय दोनों का कृष होना आवश्यक है। केवल शरीर का कृश होना सार्थक नहीं है, निष्फल है। व्रतादि इसमें परम सहायक हैं। व्रतों से दोनों की साधना सम्भव है। समाधिपूर्वक मरण ही कल्याणकारी है। देह-विसर्जन में हर्षित हो और किसी प्रकार की आकांक्षा न करे।

उपनिदेशक

जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी



\* यह लेख जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर से प्रकाशित संस्करण पर आधारित है।



## मेत्ति खमिदव्वं

जदिदा सवदि असंतेण परो वं णत्थि मेत्ति खमिदव्वं।  
अणुकंपा वा कुज्जा पावइ पावं वरावोत्ति।1415।

जदि वा सवेज्ज संतेण परो तह वि पुरिसेण खमिदव्वं।  
सो अत्थि मज्झ दोसो ण अलीयं वेण भणिदत्ति।1416।

- आचार्य शिवार्य  
भगवती आराधना

- यदि कोई दूसरा मुझमें अविद्यमान दोष को कहता है तो वह दोष मुझमें है ही नहीं, इसलिए उस व्यक्ति को क्षमा कर देना चाहिए। क्योंकि उसके द्वारा मेरे बारे में असत् दोष कहने से मेरी क्या हानि हुई?

और यदि वह मुझमें विद्यमान दोष के बारे में कहता है तो भी उसे क्षमा कर देना चाहिए। क्योंकि वह जो दोष कह/बता रहा है वह वास्तव में मुझमें है, वह झूठ नहीं कह रहा है। वह तो सत्य बता रहा है।

अतः निन्दा करनेवाले के प्रति दया करनी चाहिए। क्योंकि वह बेचारा झूठ बोलकर अनेक दुःख देनेवाला पाप एकत्र कर रहा है। मेरे दोषों से न उसमें दोष उत्पन्न होता है न मेरे गुणों से उसका कोई लाभ होता है, वह तो निन्दा करके व्यर्थ ही अपने लिए पाप-अर्जन करता है।

अनु. - पण्डित कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

## परवर्ती जैन हिन्दी काव्य पर 'भगवती आराधना' का प्रभाव

- डॉ. वीरसागर जैन



### मंगलाचरण

ज्ञान-दर्शन-चरित-तप की जो परम प्रतिपादिका।  
सकल दुःख की नाशिका व सर्वसुख-संपादिका।।  
निर्ग्रन्थ यति-आचार से करती अपूर्व प्रभावना।  
नमन शत-शत योग्य है यह भगवती आराधना।।

'भगवती आराधना' आचार्य शिवार्य का एक ऐसा सरस और लोकप्रिय ग्रंथ है कि उसका उसके रचनाकाल से लेकर अबतक अनवरतरूप से परम आदरपूर्वक पठन-पाठन होता रहा है। न केवल पठन-पाठन होता रहा है, अपितु परवर्ती साहित्यकारों की रचनाओं पर उसका अत्यधिक प्रभाव भी पड़ा है। प्रमाणस्वरूप मध्यकालीन हिन्दी-जैन-साहित्य से अनेक उद्धरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। यथा -

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।  
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि अंतोमुहुत्तेण॥107॥

- सम्यग्ज्ञान से रहित अज्ञानी जिस कर्म को लाख-करोड़ भवों में नष्ट करता है उस कर्म को सम्यग्ज्ञानी तीन गुणियों से युक्त हुआ अन्तर्मुहूर्त मात्र में

क्षय करता है। यह 'भगवती आराधना' की गाथा है। हिन्दी-काव्य के सर्वोत्कृष्ट रचनाकार कविवर पण्डित दौलतरामजी इसी भाव को अपनी 'छहढाला' में इसप्रकार व्यक्त करते हैं -

कोटि जन्म तप तपै ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।  
ज्ञानी के छिन मांहि त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते॥4.5॥

कहने की आवश्यकता नहीं है कि दोनों कथनों में अत्यधिक समानता है। इतनी अधिक कि 'छहढाला' की ये पंक्तियाँ 'भगवती आराधना' की गाथा का शब्दशः हिन्दी-अनुवाद प्रतीत होती हैं। कविवर पं. दौलतराम कृत 'छहढाला' में इस प्रकार की और भी अनेक पंक्तियाँ उपलब्ध होती हैं, जिनमें 'भगवती आराधना' की गाथाओं के भाव से अत्यन्त समानता दृष्टिगोचर होती है। जैसे -

मेरु समान लोह गलि जाय, ऐसी सीत उष्णता थाय॥1.10॥

प्रथम ढाल की यह पंक्ति 'भगवती आराधना' की निम्नलिखित गाथा से लगभग पूर्णतः समानता धारण करती है -

जदि कोइ मेरुमत्तं लोहुण्डं पक्खिविज्ज गिरयम्मि।  
उण्हे भूमिमपत्ते णिमिसेण विलेज्ज सो तत्थ॥1558॥

- यदि कोई देव या दानव मेरु के बराबर के लोहे के पिण्ड को उष्ण नरक में फेंके तो वह लोहपिण्ड वहाँ की भूमि तक पहुँचने के पहले मार्ग में ही नरकबिलों की उष्णता से पिघल जाये।

इसी प्रकार

गेही पै गृह मँ न रचै ज्यों जल तैं भिन्न कमल है॥3.15

'छहढाला' की यह पंक्ति 'भगवती आराधना' की निम्न गाथा से मिलाकर पढ़ी जा सकती है। दोनों में अद्भुत साम्य दृष्टिगोचर होता है। यथा -

उदगम्मि जायवड्ढि य उदएण ण लिप्पदे जहा पउमं।  
तह विसएहिं म लिप्पदि साहू विसएसु उसिदो वि॥1102॥

- जैसे कमल जल में ही उत्पन्न हुआ, जल में ही वृद्धि को प्राप्त हुआ तो भी वह जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही साधु भी सब विषयों के बीच रहते हुए भी विषयों में लिप्त नहीं होते।

‘छहढाला’ में ‘भगवती आराधना’ का इतना अधिक साम्य इस बात का द्योतक है कि अवश्य ही छहढालाकार ने ‘भगवती आराधना’ का गहन अध्ययन-मनन-कंठस्थीकरण किया होगा, उसी का प्रभाव उनकी ‘छहढाला’ पर यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है।

‘भगवती आराधना’ का यह प्रभाव केवल पं. दौलतराम अथवा ‘छहढाला’ पर ही नहीं है, अपितु जैन-कवियों के समूचे ही हिन्दी-काव्य पर दृष्टिगोचर होता है। यहाँ हम इस बात को कतिपय अन्य प्रमुख कवियों के काव्य-उदाहरणों द्वारा और अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। कविवर पं. दानतराय ‘दशलक्षणधर्म पूजा’ में लिखते हैं कि -

कूरे तिया के अशुचि तन में कामरोगी रति करै।  
बहु मृतक सड़हिं मसान मांहि काग ज्यों चोचै भरै॥10.5॥

‘दशलक्षणधर्म पूजा’ की इन पंक्तियों पर ‘भगवती आराधना’ की निम्नलिखित गाथा का प्रभाव स्पष्टतया देखा जा सकता है -

वग्घो सुखेज्ज मदयं अवगासेऊण जह मसानम्मि।  
तह कुणिमदेहसंफणेण अबुहा सुखायंति॥1252॥

- जैसे श्मशान-भूमि में मृतक की देह को खाकर व्याघ्र, कूकर आदि पशु सुखी होते हैं, वैसे ही विषयों में अंधे अज्ञानी लोग अशुचि शरीर-अंग को स्पर्श कर सुख मानते हैं।

इसी प्रकार दशलक्षणधर्म की उक्त पूजा में ही शरीर की अशुचिता को दरसानेवाली निम्नलिखित पंक्तियाँ और आती हैं -

ऊपर अमल मल भर्यौ भीतर कौन विधि घट शुचि कहै।  
बहु देह मैली सुगुन थैली शौच गुन साधु लहै॥5.7॥

इन पंक्तियों को ‘भगवती आराधना’ की निम्न गाथा से मिलाकर पढ़ा जा सकता है जो इस प्रकार हैं -

विट्ठापुण्णो भिण्णो व घडो कुणिमं समंतदो गलइ।  
पूदिं गालो किमिणोव वणो पूदिं च वादि सदा॥1037॥

- जैसे विष्ठा से भरे घड़े के फूटते ही सब ओर मल फैल जाता है, दुर्गन्ध फैल जाती है, यह शरीर भी विष्ठा से भरे घड़े के समान है, इससे निरन्तर

मल का स्राव होता रहता है, जैसे घाव से रुधिर व राध का स्राव होता रहता है वैसे इस शरीर से स्राव होता रहता है।

कविवर दौलतराम और दानतराय की भाँति कविवर मंगतराय के काव्य पर भी 'भगवती आराधना' का विशेष प्रभाव देखने को मिलता है। कविवर मंगतराय की प्रसिद्ध काव्य-रचना 'बारह भावना' है। यहाँ उसी से दो उद्धरण प्रस्तुत हैं -

पर्वत पतित नदी सरिता जल बहकर नहीं हटता।  
श्वास चलत यों घटै काठ ज्यों, आरे सौं कटता॥

अनित्य भावना की उक्त पंक्तियों पर 'भगवती आराधना' की निम्नलिखित गाथा का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट रूप से दिखाई देता है -

धावदि गिरिणदिसोदं व आउगं सव्वजीवलोगम्मि।  
सुकुमालदा वि हीयदि लोगे पुव्वणहछाही व॥1718॥

- जैसे पर्वतीय नदी प्रवाह से दौड़ती है वैसे ही समस्त जीवलोक में आयु प्रवाह से दौड़ती है, देह की सुकुमारता भी ऐसे नष्ट होती है जैसे सुबह की छाया तुरन्त नष्ट होती है।

ज्यों तरवर पै रैन बसेरा पंछी आ करते।  
कोस कोई दो कोस कोई उड़ फिर थक थक हारे॥

एकत्व भावना की उक्त पंक्तियाँ 'भगवती आराधना' की निम्नलिखित गाथा से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं -

रत्तिं रत्तिं रुक्खे रुक्खे जह सउणयाण संगमणं।  
जादीए जादीए जणस्स तह संगमो होई॥1752॥

- जैसे रात्रि में प्रत्येक वृक्ष पर अनेक पक्षियों का संयोग होता है वैसे ही लोक में जन्म-जन्म में प्राणियों का संयोग होता है। जैसे पक्षी रात को वृक्ष का आश्रय लेकर प्रातः गमन कर जाता है वैसे ही संसारी प्राणी आयु के समाप्त होने पर पूर्व शरीर व परिवार को त्यागकर अन्य शरीर को ग्रहण कर नये-नये संबंधियों को ग्रहण करता है।

विक्रम की 18वीं शताब्दी के मूर्धन्य कवि महाकवि भूधरदास के काव्य पर भी 'भगवती आराधना' का अत्यधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ उनके प्रसिद्ध महाकाव्य 'पार्श्वपुराण' की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिये -

ईधन सौं आगि न धापै। नदियों नहिं समुद्र समापै।

यों भोगविषै अति भारी। तृपते न कभी तनधारी॥7.81-82॥

अब इन पंक्तियों को 'भगवती आराधना' की निम्नलिखित गाथा से मिलाकर देखिए -

जह इंधणेहिं अग्गी जह व समुद्रो णदीसहस्सेहिं।

तह जीवा ण हु सक्का तिप्पेदुं कामभोगेहिं॥1258॥

- जैसे ईधन से आग की तृप्ति नहीं होती, जैसे हजारों नदियों से समुद्र की तृप्ति नहीं होती वैसे ही भोगों से जीव की तृप्ति नहीं होती।

यहाँ भी दोनों कथनों में जो अद्भुत साम्य है वह समझाने की आवश्यकता नहीं है। महाकवि भूधरदास के काव्य में ऐसी ही और भी अनेक पंक्तियाँ उपलब्ध होती हैं, किन्तु यहाँ उन सबकी तुलना संभव नहीं है। यहाँ तो केवल एक उदाहरण और देकर हम अपनी बात पुष्ट करते हैं। वज्रनाभि चक्रवर्ती की वैराग्यभावना के प्रसंग में महाकवि भूधरदास 'पार्श्वपुराण' में लिखते हैं कि -

मैं चक्री पद पाय निरन्तर भोगे भोग घनेरे।

तो भी तनक भये नहीं पूरन भोग मनोरथ मेरे॥13॥

'भगवती आराधना' की निम्नलिखित गाथा में भी ठीक यही भाव व्यक्त हुआ है -

देविंदचक्कवट्टी य वासुदेवा य भोगभूमिया।

भोगेहिं ण तिप्पंति हु तिप्पदि भोगेसु किह अण्णो॥1259॥

- देवों के अधिपति इन्द्र, चक्रवर्ती, अर्धचक्री (वासुदेव) और भोगभूमि के जीव भी भोगों से तृप्त नहीं होते तब साधारण मनुष्य भोगों से कैसे तृप्त हो सकता है! अर्थात् अपरिमित साधनयुक्त, चिरकाल तक जीवित रहकर स्वाधीन रूप से उन भोगों का भोग करके तृप्त नहीं हो पाते तब साधारण मनुष्य जो कि अल्पआयु हैं, सीमित साधनवाले हैं तथा पराधीन हैं उनकी भोगों से तृप्ति होने की तो बात ही क्या करना!

स्पष्ट है कि महाकवि भूधरदास के काव्य पर भी 'भगवती आराधना' का बहुत प्रभाव है।

इसके अतिरिक्त कविवर सूरचन्द ने तो अपनी प्रसिद्ध रचना 'समाधिमरण पाठ भाषा' का निर्माण ही पूरी तरह 'भगवती आराधना' के आधार पर किया है। उसके लगभग सभी छन्दों पर 'भगवती आराधना' का गहरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण भी उन्हीं सुकुमाल, सुकोशल, गजकुमार, सनत्कुमार, एणिकसुत, भद्रबाहु, ललितघटादि, धर्मघोष, श्रीदत्त, वृषभसेन, अभयघोष, विद्युच्चर, चिलातपुत्र, दंडक, अभिनन्दनादि, सुबन्धु, आदि समाधिप्राप्त महामुनियों के दिये हैं, जो 'भगवती आराधना' में उपलब्ध होते हैं। प्रमाणस्वरूप ग्रंथ की 1534 से 1556 तक की गाथाएँ देखनी चाहिए।

'भगवती आराधना' में अनेकानेक गाथाएँ तो ऐसी भी मिलती हैं जिन पर एकसाथ अनेक हिन्दी-कवियों ने काव्यरचना की है। उदाहरणार्थ 'भगवती आराधना' की निम्नलिखित गाथाएँ देखिए -

सद्देण मओ रूवेण पदंगो वणगओ वि फरिसेण।

मच्छो रसेण भमरो गंधेण य पाविदो दोसं॥1347॥

इदि पंचहि पंच हदा सद्दरसफरिसगंधरूवेहिं।

इक्को कहं ण हम्मदि जो सेवदि पंच पंचेहिं॥1348॥

- वन में विचरण कर रहा हरिण व्याध (शिकारी) के मनोहर गीत को सुनकर आनन्दित होता हुआ अपनी आँखें मूँद लेता है, तभी व्याध अपने तीक्ष्ण बाणों से उसका प्राणान्त कर देता है। (शब्द, कर्ण-इन्द्रिय का विषय)

- पतंगा दीपक की लौ के अनुराग के कारण उस पर मँडराता है और अन्ततः उसमें जलकर प्राण गँवा बैठता है। (रूप, चक्षु-इन्द्रिय का विषय)

- विशालकाय हाथी हथिनी के प्रति अनुराग के कारण धोखे से बनाई गई खाई में गिर जाता है, मारा जाता है। (स्पर्शन-इन्द्रिय का विषय)

- फूलों के रस का पान करने के लोभ में भँवरा विषवृक्ष के फूल की गंध से प्राण खो देता है। (गंध, घ्राण-इन्द्रिय का विषय)

- मछली रसना इन्द्रिय की लोलुपता से काँटे-युक्त भोजन कर मारी जाती है। (स्वाद, रसना-इन्द्रिय का विषय)

इस प्रकार केवल एक इन्द्रिय की लोलुपता के कारण ये जीव अपने प्राण गँवा बैठते हैं तब जो मनुष्य पाँचों इन्द्रियों के विषय-सेवन के लिए लोलुप है उसका क्या हाल होगा!

इन गाथाओं के भाव को हिन्दी के अनेक सुकवियों ने अपनी काव्य-रचनाओं में अत्यन्त कुशलता के साथ व्यक्त किया है। विक्रम की सत्रह-अठारहवीं शताब्दी में इस भाव को प्रकट करनेवाले अनेक रसात्मक पद भी लिखे गये हैं। प्रमाण-स्वरूप एक पद यहाँ अवलोकनीय है -

हे मन! तेरी को कुटेव यह, करन विषय में धावे है।।टेक।।  
 इनहीं के वश तू अनादि तै, निज स्वरूप न लखावे है।  
 पराधीन छिन छीन समाकुल, दुर्गति विपति चखावे है।।1।।  
 फरस विषय के कारण वारन, गरत परत दुख पावे है।  
 रसना इंद्रीवश झष जल में, कण्टक कंठ छिदावे है।।2।।  
 गंधलोल पंकज मुद्रित में, अलि निज प्रान खपावे है।  
 नयन विषयवश दीपशिखा में, अंग पतंग जरावे है।।3।।  
 करनविषय वश हिरन अरन में, खलकर प्राण लुनावे है।  
 'दौलत' तज इनको जिन को भज, यह गुरु सीख सुनावे है।।4।।

- दौलत विलास, पद 109

तात्पर्य यह है कि 'भगवती आराधना' परवर्ती हिन्दी-जैन-साहित्य का एक अत्यन्त प्रमुख आधार-ग्रंथ रहा है। यदि यह भी कह दिया जाए कि षट्खंडागम, समयसार, महापुराण आदि अनेक ग्रंथों की भाँति यह भी परवर्ती जैन-साहित्य का एक प्रधान उपजीव्य ग्रंथ रहा है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

1. भगवती आराधना, संपादक पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, महाराष्ट्र, संस्करण सन् 2006
2. छहढाला, कविवर पं. दौलतराम (ज्ञानपीठ पूजांजलि, भारतीय ज्ञानपीठ)
3. दशलक्षण धर्म पूजा, कविवर दानतराय (ज्ञानपीठ पूजांजलि, भारतीय ज्ञानपीठ)
4. बारह भावना, कविवर मंगतराय (ज्ञानपीठ पूजांजलि, भारतीय ज्ञानपीठ)
5. पार्श्वपुराण, महाकवि भूधरदास, सन्मति ट्रस्ट, मुंबई, सन् 2001
6. समाधिमरण पाठ भाषा, कविवर सूरचन्द्र (वृहज्जिनवाणी संग्रह, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर)
7. दौलतविलास, कविवर पं. दौलतराम, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सन् 2009

अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ

नई दिल्ली 110016



## सो डज्जदि व ण वा परो

रोसाइट्टो णीलो हदप्पभो अरदिअग्गिसंसत्तो।  
सीदे वि णिवाइज्जदि वेवदि य गहोवसिट्ठो व।1354।

भिउडीतिवलयवयणो उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खक्खो।  
कोवेण रक्खसो वा णराण भीमो णरो भवदि।1355।

जह कोई तत्तलोहं गहाय रुट्ठो परं हणामित्ति।  
पुव्वदरं सो डज्जदि व ण वा परो पुरिसो।1356।

- आचार्य शिवार्य

भगवती आराधना

- जो क्रोध से ग्रस्त होता है उसका रंग नीला पड़ जाता है, देह (शरीर) की कांति नष्ट हो जाती है, आवेग-उद्वेग की आग से संतप्त होता है, कण्ठ सूखने लगता है, शरीर काँपने लगता है।1354।

क्रोध के कारण भृकुटि चढ़ने से मस्तक पर तीन रेखाएँ पड़ जाती हैं। नेत्र लाल होकर विस्तीर्ण (चौड़े) हो जाते हैं, फैलकर बाहर निकलने को हो जाते हैं। इस तरह क्रोध से आविष्ट मनुष्य दूसरे मनुष्यों के लिए राक्षस की भाँति भयानक हो जाते हैं।1355।

कोई व्यक्ति रुष्ट होकर लोहे का गर्म पिण्ड उठाकर किसी दूसरे का घात या अनिष्ट करने के लिए तत्पर होता है तो वह उस तप्त लौहपिण्ड पकड़ने से दूसरे का अनिष्ट करने से पहले अपना हाथ जला लेता है, इस प्रकार पहले उसका अनिष्ट हो जाता है अर्थात् क्रोध से आविष्ट व्यक्ति द्वारा दूसरे का अनिष्ट हो या न हो पर पहले स्वयं का अनिष्ट अवश्य कर लेता है।

अनु. - पण्डित कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

